THE

PANCHADASI SAR

From

Shri Vedyaranya Swami's

PANCHADASI

Hindi word to word Translation

and

Commentary by

Sh. T. L. Koul (Auchkans)

~~Price Rs.~~ 15/-
Free

Printed at : Kanti Offset Printing House, Sarwal Rad, Jammu.

THE

PANCHADASI SAR

From

Shri Vedyaranya Swami's

PANCHADASI

Hindi word to word Translation

and

Commentary by

Sh. T. L. Koul (Auchkans)

Printed at : Kanti Offset Printing House, Sarwal Road, Jammu.

श्री

पंचदशी सार

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य

श्री विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी से

कुछ सारभूत अंशों को

ब्रह्मस्वरूप श्री आनन्द कौल

जी के मतानुसार

उनके सुपुत्र

श्रीनगर (काशमीर) निवासी

पं० टीका लाल कौल (अचकन)

ने हिन्दी में पदार्थ तथा टिप्पणी लिखकर

मुमुक्षु जनों के हितार्थ

मुद्रित करके प्रकाशित किया।



श्री टीका लाल कौल जी (अचकन)



श्री ब्रह्मस्वरूप आनन्द कौल जी

श्लोक-सूची

श्लोक	पृष्ठ संख्या
बोधादूर्ध्वं च तद्वेयं ...	३२
तत्वं बुद्धवापि ...	३२
बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य ...	३३
बोधात्पुरा ...	३४
विड्वराहादितुल्यत्वं ...	३४
त्यज्यतामेष ...	३५
बुद्धतत्त्वेन ...	३५
दृश्यं नास्तीति ...	३६
विचारितमलं शास्त्रं ...	३७
विक्षिप्यते कदाचिद्धी: ...	३८
विक्षेपो यस्य ...	३८
दर्शनादर्शन हित्वा ...	३९
संसार: परमार्थोऽयं ...	४०
आत्मा भासस्य ...	४१
सदा विचारयेत्तस्माद ...	४३
नाप्रतीतिस्तयोर्बाध: किन्तु ...	४४
परमात्मावशेषोऽपि ...	४४
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद ...	४५
जलव्योम्ना घटाकाशो ...	४५
स्पष्टं भाति ...	४६
निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि ...	४७
माया भासेन जीवेशौ ...	४८
अयं यत्सृजते ...	४९

श्लोक		पृष्ठ संख्या

श्लोक		पृष्ठ संख्या

श्लोक		पृष्ठ संख्या
चिरंतयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय	...	७९
मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां	...	७९
आत्म धीरेव विद्येति	...	८०
या प्रीतिरविवेकानां	...	८१
काव्य नाटक तर्कादिमभ्यस्यति	...	८१
जपयोगोपासनादि कुरुते	...	८२
चित्तैकाग्रयं यथा योगी	...	८३
कौशलानि विवर्धन्ते	...	८३
जाग्रत्सप्नसुशुप्त्यादिप्रपंचं	...	८४
एक एवात्मा मंतव्यी	...	८५
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता	...	८५
वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधय	...	८६
कामक्रोधादयः	...	८६
स्वं परं च न वेत्त्यात्मा	...	८७
एते ज्वरः शरीरेषु	...	८८
अहं मनुष्य इत्यादि	...	८८
प्रारब्ध कर्मणिक्षीणे	...	८९
अविद्वदनुसारेण	...	८९
अधिक्षिप्तस्ताडितो व बालेन	...	९०
निंदितः स्तयमाप्नो वा	...	९१
क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य	...	९१
संधयो अखिल वृत्तीनाम	...	९२
ईषद्भासनमाभासः	...	९३

श्लोक		पृष्ठ संख्या

श्लोक		पृष्ठ संख्या

श्लोक		पृष्ठ संख्या

श्लोक		पृष्ठ संख्या

श्लोक		पृष्ठ संख्या
सुखे वैषयिके	...	१६८
एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते	...	१६८
ह्यनादानविहीनेस्मिन्नुपेक्षा	...	१६६
रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा	...	१६६
त्यक्तुं योग्यस्य	...	१७०
आत्मार्थत्वेन सर्वस्य	...	१७१
मा न भूव	...	१७१
जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापाय	...	१७२
शेषाः प्रशादिवित्तांता	...	१७२
वित्तात्पुत्रः प्रियः	...	१७३
अलभ्यमानस्तनयः पितरौ	...	१७४
जातस्य ग्रह रोगादि	...	१७४
यूनश्च परदारादि	...	१७४
एवंविविच्य पुत्रादौ	...	१७५
यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते	...	१७६
परप्रेमास्पदत्त्वेन परमानन्द	...	१७७
सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं	...	१७७
न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति	...	१७८
आनंदादेव तज्जातं	...	१७६
शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति	..	१८०
शक्ते कार्यानुमेयत्वादकार्ये	...	१८०
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां	...	१८१
फलपत्रलतापुष्प शाखाविटप	...	१८२

श्लोक		पृष्ठ संख्या

पंचदशी सार

भूमिका

इस अनिर्वचनीय नामरुपात्मक जगत में अनन्त काल से जीव, जगत तथा परमात्मा के प्रति बहुत कुछ विचार किया गया है और लिखा गया है। इन लेखकों में ज्ञानी, योगी, मुनि, मनोवैज्ञानिक और चिन्तक, स्वदेशी और विदेशी, प्राचीन व अर्वाचीन सभी प्रकार के लेखक हैं। प्रायः इन बुद्धिमानों की विचारधाराओं में बहुत अन्तर है। इसी अन्तर के कारण मतमतान्तर, भेदभाव तथा विरोध आज तक चले आए हैं।

आश्चर्य यह है कि यह सब विचारवान श्रुति, स्मृति का सहारा लेते हैं और इन शास्त्रों को बड़ी निपुणता से अपने अपने मत तथा विचारधारा के अनुकूल प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'महाभारत' की एक कहानी है।

महाराज युधिष्ठिर जब अपने आज्ञाकारी भाइयों के साथ बनवास में थे तो यक्ष के प्रश्नों के उत्तरों में एक उत्तर यह भी था :—

'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतिर्विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य मूलं निहितं गुहायां महाजना येन गतः, स पन्थाः ॥'

इसी आधार पर अनेकों मुनियों ने अपने अपने मत के अनुसार जीव जगत तथा परमात्म के प्रति भिन्न भिन्न विचार व्यक्त किये हैं, और आपात दृष्टि से वे सब मान्य हैं। एक श्लोक है :—

'युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यतृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ।।'

यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जो धर्म का मूल है वह हृदय में है, वह धर्म का मूल किन किन प्रभावों से प्रभावित होता है वस्तुतः यह धर्म का मूल देश, काल तथा वस्तु से प्रभावित होता है। जीव का अन्तःकरण प्रकृति का कार्य होने के नाते इस पर प्रकृति का नियंत्रण है। यह प्रकृति जीव की प्रत्येक चेष्टा को चाहे वह किसी भी गुण से सम्बन्धित ही क्यों न हो, प्रकट होती है, और जीव को विवश करती है, जैसा कि श्री भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता की १८वीं अध्याय, श्लोक ६० में स्पष्ट किया है :—

'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशो पितत् ।।'

और भी तीसरे अध्याय श्लोक ३३ में श्री भगवान् का वाक्य है :—

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञान वानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यसि ।।'

अतः अब यह सिद्ध हुआ कि चाहे जो भी श्रुति, स्मृति हो, उसका अर्थ प्रत्येक जीव की प्रकृति से अवश्य प्रभावित होता है। दुर्योधन ने एक बार कहा था :—

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति, जानाम्यधर्मं न च मे निवृतिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथानियुक्तो स्मि तथा करोमि ।।'

कई विचारवान कहते हैं कि क्या कर्म करने में जीव की स्वतंत्रता नहीं है? इस पर प्रारब्ध और पुरुषार्थ का वादविवाद उपस्थित होता है। उन विचारवानों का ध्यान में श्री भगवान् की उक्ति की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं। श्री भगवान् ने श्री गीता के अध्याय १८ श्लोक १४ में व्यक्त किया है :—

'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टाः दैवं चैवात्र [illegible]

मेरे विचार में यही एकमात्र प्रारब्ध और पुरुषार्थ का उत्तर है। मैं समझता हूं प्रारब्ध और पुरुषार्थ एक ही मुद्रा के दो तरफ हैं। यह रेल की यात्रा से स्पष्ट होता है। रेल जहां के लिए नियुक्त हो वहीं जायेगी। पर रेल के भीतर हम स्वतंत्र हैं और जिस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं, हम कर सकते हैं। यही प्रारब्धवाद और पुरुषार्थवाद के झगड़ों का उत्तर है। वास्तव में जीव स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी है। कई बातों में हम स्वतंत्र हैं और कई बातों में हम अत्यन्त परतन्त्र हैं। यह सब बातें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधी दैविक सुख दुःखों में स्पष्टता से समझ में आती हैं।

ऊपर निर्णय किए गए विचारों के अतिरिक्त और भी कई विचार, विज्ञान से प्रभावित होकर, आजकल स्पष्ट हो रहे हैं। जैसे कई बुद्धिमान विज्ञानी भगवान् के सगुण या निर्गुण रूप को नहीं मानते हैं। जो जो प्रमाण उनके सामने रखे जाते हैं वह या तो उनको अर्थवाद वाक्य समझते हैं या कहते हैं कि महात्माओं के अनुभव को बढ़ चढ़ कर भावना की उत्पत्ति के लिये बताया गया है। कभी कहते हैं कि यह जीव के मन की उत्पत्ति है— वास्तविक नहीं। या तर्क वितर्क की जटिल और निराधार समस्याओं में हम को खींचते हैं। परन्तु प्राकृतिक नियमों में भावना रखते हैं और विवश होकर प्रकृति को अंगीकार करते हैं। कुछ समीचीन प्रमाणों का निराकरण नहीं करते हैं। कहते हैं हमें कोई ठोस वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता है। और ऐसे प्रमाणों को न तो स्वीकार ही करते हैं और न ही निराकरण करते हैं।

इन सब स्वदेश या विदेश के विद्वानों को हम निकृष्ट कह कर उपेक्षा नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह भी वेद, वेदांग और अन्य शास्त्रों को भली

प्रकार से जानते हैं। और बड़े बुद्धिमान और परिश्रमी होते हैं और हमारे प्रमाणों से ही हमको परास्त करते हैं

यह विपक्षी लोग नहीं समझते हैं कि हमारे शास्त्रों में भिन्न भिन्न बातें भिन्न भिन्न अधिकारियों के लिए तथा देश, काल, वस्तु इत्यादि दृष्टि में रखकर निर्णय किये हैं। अत: इन विपक्षियों की आलोचना हम युक्ति-युक्त नहीं समझते हैं और जब इन सब विषयों को उनके सामने रखते हैं और अपनी विचारधारा की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं तो सम्भवत: वह पक्षपात से प्रभावित होकर 'शेषं कोपेन पूरयेत्' के व्यवहार का सहारा लेते हैं। यह खेद की बात है कि यह विपक्षी लोग निष्पक्ष होकर हमारी बात की ओर ध्यान देने का साहस नहीं करते हैं। इसी कारण से आजकल सच्चा और सीधा मार्ग नहीं प्राप्त कर सकते। मैं इसको भी प्रकृति का प्रभाव और प्रकृति की इच्छा, जो प्रायः लोग नहीं समझते हैं, मानता हूं।

आजकल रजोगुण प्रधात प्रवृति के कारण ही पारमार्थिक रहस्यों को अन्तः करण की शुद्धि के बिना ही समझने का साहस किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब तक अपने अन्तः करण की श्रेणी क अनुकूल उपासना नहीं की जाती, तब तक पारमार्थिक तर्क वितर्क एक बुद्धि का नाच रह जाता है। देखा गया है कि प्रायः जिज्ञासु अपने तात्विक अन्तः करण की स्थिति को नहीं समझ सकता है, इसी कारण से भारतीय सभ्यता में पथप्रदर्शक गुरू की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है। ऐसा सच्चा गुरू एक गुणवान सुशील शिष्य को हर प्रकार की परीक्षा करके उपासना का सगुण या निर्गुण और प्रणव की उपासना का उपदेश करता था। तत्पश्चात् जिज्ञसु को निरन्तर सादर दीर्घकाल के अभ्यास के बाद उन्नति होती थी।

सच्चे इतिहास से भद्र पाठकों की समझ में आया होगा कि गुरू कि सच्ची प्ररीक्षा कितनी आवश्यक है। गुरुकृपा, शास्त्रकृपा तथा आत्मकृपा

न्तःकरण को निर्मल बनाने में आवश्यक सहकार है। वैसे श्रुतिवाक्य भी है—
श्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः।" आजकल के रजोगुण
धान विद्वानों की ओर इस श्रुति वाक्य का सस्मरण अनुचित नहीं
ोगा :—

'अविद्यायामन्तरे वर्तमानः स्वयं धीरः पण्डितं मन्यमानः।
दद्रिम्यमाणः पर्यन्तिमूढ़ाः अन्धेन नीयमानाः यथा न्धाः॥'

ंक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उपासना से गुरू शिष्य
म्प्रदाय को दृष्टि में रख कर अन्तः करण को निर्मल नहीं किया जाता
ब तक पारमार्थिक रहस्यों को समझना यदि असम्भव नहीं है पर कठिन
वश्य है। आजकल रजोगुण, तमोगुण की अधिकता के कारण सच्चे
ुख का मार्ग हाथ भी नहीं आता।

भाग्यवश मेरा सम्पर्क विदेश और स्वदेश के विचारवानों से होता
रहा है। इन बहुत पढ़े लिखे महाशयों में अंग्रेज, मुसलमान, हिन्दू और
अन्य जाति के लोग भी होते थे। इनके साथ गम्भीर बातचीत के
समय मुझे हमेशा कौतुक रहा था कि में इनसे जीवा, जगत और परमात्मा
के विषयों पर उनके दृष्टिकोण को समझने का साहस करूं। प्रायः यह
महाशय या तो अनीश्वरवादी थे या अपने अपने धर्म से प्रभावित होकर
मेरे विचार को पक्षपात में ही विचार करते थे। पर मुझे उनके मन के विचारों
का निष्पक्षता से गम्भीर विचार करने का अवसर मिलता था। कुछ बातें
ऐसी हैं जिनको वह और हम समानता से समझते थे जैसे जीव का होना, आनन्द
की चाह और प्राकृतिक नियम। जो कुछ उनके विचार होते थे मैं भली
प्रकार उनको समझने का यत्न करता था और जहां उनके विचारों का
मेरे विचारों से सादृश्यता नहीं होती थी में उनको प्रश्न करता था: 'यदि
आप ईश्वर को नहीं मानते हैं परन्तु अपने आप को तो अवश्य मानते होंगे।
इस अनुपम जगत का कोई ना कोई निर्माण करने वाला अवश्य होगा और

इस कार्यरूप जगत के अटल नियमों में कारणरूम से अवश्य कोई होगा। 'प्रत्येक प्राणीमात्र को आनन्द की उपलब्धि सदा अवश्य रहती है। इसी तरह से बहुत से अन्य प्रश्नों को वह स्वीकार करते थे। यदि वह हमारे रीति रस्म, विधि और ऐतिहासिक भाग से सहमत नहीं होते थे परन्तु मेरे विचारों के दार्शनिक भाग को निराकरण नहीं करते थे।

इसी कारण के वशीभूत होकर मैंने महामुनि श्री विद्यारण्यस्वामी कृत अनुपम ग्रन्थ पंचदशी सार विस्तार करने का प्रयत्न किया है। श्री पंचदशी में स्वामी विद्यारण्य के ही श्लोक बद्ध विचार नहीं हैं अपितु अन्य श्रुति स्मृति का संकलन भी है। उनमें से सर्वसाधारण पाठकों के लिए इस पंचदशी सार में शिक्षात्मक अथवा निर्विवाद श्लोकों का ही शब्दार्थ तथा टिप्पणी यथामति निरूपित किए गए हैं।

हमारे घर में भी जो दर्शनों में निपुण स्वामी जी आते रहे, उनका कहना है कि श्री पंचदशी का भली प्रकार अध्ययन करने से प्रमाणगत संदेह और प्रमेय गत संदेह निवृत्त होते हैं।

श्री पंचदशी के विचार से अवश्य परोक्ष ज्ञान और अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान के लिए निदिध्यासन का अभ्यास करना आवश्यक है। इस विषय में कवि-सम्राट श्री भृर्तहरि के एक श्लोक का अनुवाद करना अनुचित न होगा।

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराण पठनैः शास्त्रैः महा विस्तरैः।
स्वर्ग ग्राम कुटि निवास फलदैः कर्म क्रिया विभ्रमैः ।।
मुक्त्यैकं भव बंध दुःख रचना, विध्वंसकाला नलम।
स्वात्मानंद पद प्रवेश कलनं शेषा वनिग्वृत्तयः ।।

शास्त्रों का पठन पाठन जब तक प्रमाणगत संदेह और प्रमेयगत संदेह नहीं निवृत होते हैं, तब तक सम्बन्धित शास्त्रों की आवश्यकता है।

अधिक शास्त्रों की तृष्णा मंद अधिकारी को बहुत रहती है और उत्तम अधिकारी को थोड़ी रहती है अनुभवी महात्माओं का कहना है कि यह अधिकारी भेद उपासना की न्यूनता और अधिकता के कारण ही हो सकती है। अकृत उपासक को अधिक विद्या का अवलोकन करना, निदिध्यासन का काम करती है।

शास्त्रों का अवलोकन और शास्त्रों का अभ्यास उच्च कोटि के विद्वानों से ही होता है। विशेषतर पारमार्थिक शास्त्रों की बुद्धि और ऐकाग्य से ही सम्भव है।

देखा गया है कि शास्त्रों का अभ्यास कुछ समय के बाद एक विषय सा बन जाता है और शास्त्रज्ञ पुरष शास्त्रों के अवलोकन में ही चरितार्थता समझते है। मेरा सर्व साधारण शास्त्रज्ञों के सामने और विद्वानों के सामने सिर झुकता है। कारण यह है कि आधुनिक समय में इन शास्त्रज्ञों की कमी है।

पर मुक्ति मार्ग में शास्त्रों का उपयोग तभी तक हो सकता है, जब तक जिज्ञासु को अदृढ़ परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे किसी पर्यटनशील मनुष्य को एक चौराहे में पता नहीं लगता कि में किस मार्ग से चलूं, वहां वह राह दिखाऊ पट्टिका को देखता है और अपने लक्ष्य की ओर चलता है। यदि वह पर्यटक इस राह दिखाऊ पट्टिका को ही पकड़ कर बैठे और मार्ग पर चलने का साहस न करे तो वह लक्ष्य पर कैसे पहुंच सकता है? लक्ष्य पर पहुचने के लिए शनै शनै चलने से ही सफलता होती है।

मुक्ति मार्ग में यही हाल उन जिज्ञासुओं का होता है जो शास्त्र का अध्ययन करके शास्त्र को पकड़े रखते हैं और शास्त्र कथित उपायों की नहीं पालन करते हैं।

हां, आधुनिक ससय में इन शास्त्रज्ञों को सम्मान तथा अन्य, अधिक

लाभ तो होता है और ये शास्त्रज्ञ इसी को पर्याप्त समझते हैं। शास्त्रों का कहना है कि लक्ष्य पर पहुंचने के लिए निदिध्यासन आवश्यक है। निदिध्यासन से समाधि लाभ होता है, जैसे भगवान् ने कहा है—"निवात दीपवतच्चितं समाधिरभिधीयते।" सविकल्प समाधि के पश्चात् निर्विकल्प समाधि सुगमता से प्राप्त होती है। शास्त्रों का कहना है कि वहां हमारे शररी में अमृतवर्षा होती है।

हमें मुक्ति लाभ के लिए मन की स्वच्छता ही उपयोगी है। यदि यह अभ्यास, अर्थात् निदिध्यासन, कठिन भी है तो भी महान फलदायक होने के कारण मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है।

मैंने इसी पंचदशी का अध्ययन तथा गोष्ठी रूप अभ्यास, अपने ब्रह्म स्वरूप पिता श्रीमान् आनन्द कौल जी के चरणों में किया है। मेरे पिता मेरे सद्गुरू भी थे। वे गृहस्थी महात्मा तीक्ष्ण बुद्धि के थे और उनको पंचदशी पर इतना अधिकार था कि उनको आनन्द कौल जी पंचदशी के नाम से लोग पुकारते थे।

श्रीमान् आनन्द कौल जी, मेरे पिता, कोई विशेष शास्त्री विद्वान नहीं थे, परन्तु जितना उन्होंने अध्ययन किया था, तीक्ष्ण बुद्धि के कारण वह सारा हृदयंगम हुआ था।

मैं भी स्वयं कुछ विशेषता से विद्वान नहीं हूं। यदि अपने ब्रह्म स्वरूप पिता से कुछ अधिक पारमार्थिक शास्त्रों का संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी में अवलोकन किया है तो भी मैं स्वयं सत्संग और गोष्ठी में विश्वास रखता हूं।

एक शिष्य जिसने साठ साल गुरू के स्थान पर काव्यशास्त्र, व्याकरण और पारमार्थिक शास्त्रों का भली प्रकार अध्ययन किया है, यह शिष्य निर्मल बुद्धि का और सदाचार सम्पन्न है, अपने वरिष्ठगुरू भाई से पूछने लाग

कि इतने समय गुरुकुल में रहकर और इतनी विद्या प्राप्त करके हमको क्या मिला ? अध्यापक के समान हम विद्या पढ़ सकते हैं परन्तु हमको कोई संतोषजनक स्वरूप लाभ इस शास्त्र से नहीं हुआ।

इसी तरह से हमारे सब पारममार्थिक शास्त्र, त्रुटि से रहित हैं, पर अविद्या को दूर करना जिज्ञासु का काम है। इस कारण से भी पारमार्थिक शास्त्रमात्रा से स्वात्मलाभ नहीं हो सकता यदि शास्त्रों का अवलोकन अवश्यं भावी है। इस वक्तव्य से पाठक शास्त्रों की न्यूनता कृपया अनुमान न करें। शास्त्र ही स्वात्मलाभ की प्रथम श्रेणी है, इसके बिना कुछ नहीं हो सकता है।

जो सच्चे जिज्ञासू हों उनको विधि के अनुसार वैज्ञानिक तरीके पर प्रगति करनी होगी, जैसे आजकल के वैज्ञानिक भिन्न भिन्न विषयों पर सादर निरंतर और दीर्घकाल तक खोज करते हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठ और सर्वगुणसम्पन्न साधक को साधना करनी पड़ती है। और निरंतर अपनी प्रगति की और दृष्टि रखनी पड़ती है। इक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी तक चढ़ने का साहस करना होता है। कई महाजन अपनी किसी प्रगतिरूप सीढ़ी को ही पकड़ रखते हैं और उसी को पर्याप्त समझते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रगति की शनैः शनैः साहस के साथ आगे ले चलना है जैसे श्री भगवन ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में कहा है :—

'शनैः शनै रूपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥'
यतो यतो निश्चरते मनश्चण्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदा त्मन्येव वशं नयेत् ॥

अन्त में अपने बुद्धिमान पाठकों से विज्ञप्ति करना समीचीन समझता हूं। यह सब विचार मेरे व्यक्तिगत हैं। यदि किसी पाठक को इस ग्रन्थ के

अध्ययन के पश्चात् कुछ सदेह हो अथवा मेरे वक्तव्य के साथ सहमति नहीं हो तो कृपया मेरे पास आकर अथवा पत्र व्यवहार करके अपनी अलोचना को स्पष्ट करें। में उनका संदेह निरास करना अपना सौभाग्य समझूंगा। मेरी इस समय ८३ वर्ष की आयु है और चल फिर नहीं सकता हूं। नहीं तो में इन आलोचकों के द्वार पर हर्ष से अपना निश्चय विवरण करने के लिए जाता। इस कारण से मैंने सुभग आलोच को मेरे यहां आने का निमन्त्रण किया है।

एक निश्चय जिसको हमारे सब शास्त्रों का समर्थन प्राप्त है, निर्विवाद रूप से समस्त स्वदेश और विदेश के विद्वानों ने स्वीकार किया है।
मतमतांतर के जटिल वाद विवाद से कुण्ठित होकर कितने ही सच्चे जिज्ञासु विस्मित रहते हैं। मैं ऐसे जिज्ञासुओं को अपने परामर्श से परिचित करना चाहता हूँ। जीव जगत और ईश्वर को किसी ने आज तक तात्विक दृष्टि से नहीं समझा है। कारण यह सब माया कार्य है। जैसे श्री भगवन् ने गीता में कहा है :—

'दैवी ह्येषागुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'

जब हम विचार करते हैं तो हम इस सम्सत स्वदेश विदेश के विचारवानों के समेत सहमत हैं कि यह सब दृश्मान जगत हमारे मन का संकल्प है जिसको वेदान्त परिभाषा में उत्तमाधिकरिगम्य एक जीववाद के नाम से माना है। इस निश्चित मत को महामुनि काश्मीर शैवाचार्य पूज्यपाद श्रीमान अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने एक वक्तव्य में कहा :—

भावानांन समुद्भवो स्ति सहजः त्यतभाविता भान्त्यमी।
निःसत्या अपि सत्यतां अनुभव भ्रान्त्या मर्जन्ति क्षणम्।
त्वत्संकल्पज एषविश्वमहिम नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तत्मातत्वं विभवेन भासिभुवनेषु एको प्यनेकात्मकः ॥

वास्तव में जैसे ऊपर श्रेष्ठ आचार्य ने व्यक्त किया है यह सब जगत जिसके अन्तः पाती हम भी हैं, ब्रह्मसरूप ही है जैसे कि वेदान्त की परिभाषा में इस पंचदशी सार के एक श्लोक से स्पष्ट होता है।

परात्मादव्वयानन्दः पूर्णः पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगत्भूत्वा प्राविशेत् जीवरूपतः॥

जब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हुआ कि यह जगत जिस में जीव, जगत और ईश्वर सब आते हैं, हमारे ही संकल्प का परिणाम है तो जिज्ञासु को किस बात की आवश्यकता है। जैसे पहले लिखा है जिज्ञासु को आनन्द की (जो उसका अपना स्वरूम है) इच्छा रहती है। आनन्द मन का भाव है और भाग विभाग से मुक्त है। विद्यानंद, योगानन्द, ब्रह्मानन्द विषयानन्द सब एक ही हैं और मन के द्वारा उपलब्ध हो सकता है और इस मन को सर्वशास्त्र मान्य रीतियों के अनुसार एकाग्र कर सकते है।

मुझे कुछ विदावानों से, अमेरिकन चिन्तकों से इस विषय में सम्मति होने का सौभाग्य हुआ है और में संशयरहिम भाव से कह सकता हूं कि इस में किसी सम्प्रदाय की दो मति नहीं है। अतः हर प्रकार से निर्विवाद है जैसे कि इस पंचदशी सार के कई शास्त्रपदों से स्पष्ट होता है :—

जैसेः मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः
बन्धायविषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥
चित्तमेवहिसंसारः तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चितः तन्मयो मृत्यो गुह्ग्मेतत्सनातनम्॥



परिचय



ब्रह्मस्वरूप श्रीमाक आनन्द कौल जी का जन्म एक कुलीन और सम्पत्तिवान ब्रह्मण घर में हुआ था। वह सन् १८७६ में उत्पन्न हुए और नन् १९४० में देहान्त कर गये। उन का पिता जिनका नाम पं० देव कौल जी था, एक जागीर दार थे, वह जागीर अब पाकिस्तान में चली गई है। पं० आनन्द कौल जी एक जागीदार के पुत्र होने के नाते अपनी जागीर में छोटी ही अवस्था में अपने पिता के साथ चले जाते थे। इस कारण से वह अधिक विद्या का ग्रहण नहीं कर सके, परंतु घर में साधुसमागम से प्रभावित हो कर जागीर का काम छोड़ कर सरकारी कस्टम विभाग में नौकरी करने लगे और अन्त में एसिस्टण्ट आडीटर की श्रेणी से रीटायर हुए। उद्देश्य यह था कि वह सत्संग और साधुसम.ज में ही अपना अनमोल समय बितायें।

श्री आनन्द कौल जी की माता जिसका नाम रक्षमाली था ४० साल की आयु तक वन्ध्या रही तत्पश्चात् संपत्तिवान तथा सुशील स्वभाव और अत्यंत उदारचित्त होने के कारण श्रीमती रक्षमती ने चालीस साल की आयु में एक देवर के ग्यारह वर्षीय बालक को गौद लिया और बडे उत्साह और धन का व्यय करने के पश्चात् उसका उपनयन संस्कार किया। इस बालक का नाम हरिकाक जी कौल था। जब उसके माता पिता ने छोटी ही अवस्था में विवाह करने का प्रबन्ध किया तब श्री हरिकाक ने अपनी माता रक्षमाली से पूछा आप यह क्या प्रबंध करते हैं ? तो श्रीमती रक्षमाली ने उत्तर में कहा, कि कुल को जीवित रखने के लिए या तो आपकी संतति

परात्मा ह्ययानन्दः पूर्णं पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशेत् जीवरूपतः

जब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हुआ यह जगत जिस में जीव जगत और ईश्वर सब आते हैं हमारे ही संकल्प का परिणाम है तो जिज्ञासु को किस बात की आवश्यकता है? जैसे पहले लिखा है जिज्ञासु को आनन्द की जो उसको अपना स्वरूप है इच्छा रहती है। आनन्द मन का भाव है और भाग विभाग से मुक्त है। विद्यानन्द योगानन्द ब्रह्मानन्द विषयानन्द सब एक ही हैं और मन के द्वारा उपलब्ध हो सकता है और इस मन को सर्व-शास्त्र मान्य रीतियों के अनुसार एकाग्र कर सकते हैं।

मुझे कुछ विद्वान अमैरिकन चिन्तकों से इस विषय में सम्मति होने का सौभाग्य हुआ है और मैं संशयरहित भाव से कह सकता हूं कि इसमें किसी संप्रदाय की दो मति नहीं हैं अतः हर प्रकार से निर्विवाद है जैसा कि इस पंचदशी सार के कई शास्त्रपदों से स्पष्ट होता है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥
चित्तमेवहि संसारः तत्प्रयत्नेन शोधयेन्।
यच्चित्तः तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम्॥





श्री गणेशाय नमः

श्री गुरवे नमः

अथ पञ्चदशी सार तत्वविवेकप्रकरणम्

सभ्यता के अनुसार ग्रंथकार ने गुरुचरण नमस्कार रुपी मंगलाचरण किया है।

नमः श्री शंकरानंद गुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोह ग्राहग्रासैक कर्मणे ॥ १ ॥

सविलास—अविद्यारुपी कार्य वर्ग सहित। **महामोह**—महा मोह रुपी। **ग्राह**—मगरमच्छ को। **ग्रास**—नाश करने के। **एककर्मणे**—केवल व्यापार वाले। **श्री शंकरानंद**—श्रीमान् शंकरानन्द। **गुरु**—गुरु के। **पाद**—चरण। **अम्बुजन्मने**—कमलों को। **नमः**—नमस्कार हो।

ग्रन्थकार ने आरम्भ में इस श्लोक के द्वारा अनुबन्ध चतुष्टय सूचित किया है अर्थात् अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध इन सबका निर्णय पहले ही परिचय में कर आये हैं। अतः पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं है ॥ (१)

इयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः ।
मान भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥ २ ॥

यतः—जिस कारण से। **इयं**—यह। **आत्मा**—स्वात्मरुप आत्मा। **परानंदः**—परम आनन्द स्वरुप है। **परप्रेम**—इसलिये सबसे अधिक प्रेम का। **आस्पदं**—आश्रय है। **मा न भूवं**—'मेरा अभाव कभी न हो।' **हि**—किन्तु। **भूयासम्**—मेरा होना 'मेरी सत्ता सदा बनी रहे।' **इति**—इस प्रकार हर प्राणी की इच्छा रहती है। **प्रेमात्मनि**—अपने आप में प्रेम। **ईक्ष्यते**—दिखाई देता है।

टीका : यह सिद्ध है 'सुखवृद्धि प्रीति वृद्धौ'। जिस पदार्थ में जितना सुख हो उतना ही उसमें प्रेम होता है। यह हम साधारण व्यवहार में भी देखते हैं। कोई यह नहीं चाहता है कि 'मैं न रहूं' अपितु अपने जीवित रहने के हर प्रकार के उपाय करता है। यही एकमात्र अपने आप के आनन्द-रुप होने में प्रमाण है। यह सर्वसाधारण मनुष्य समझ सकता है। इस सम्बन्ध में पूज्यपाद शैवाचार्य उत्पलदेव जी का एक पद संस्मरण करना अनुचित न होगा :-

'त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।
इतिस्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः ।।

अर्थ : हे ईश। आप ही सबके अन्तर्रात्मा हैं और सब अपने आप में प्रेम रखते हैं। इस कारण से अपने आप को प्रेम करना ही स्वामी की भक्ति है, पर यह जानने वाले जन ही विजय वाले हैं।

यहां श्री मद्भागवद्गीता के एक पद का भी स्मरण करना उपयोगी होगा जो भगवान् ने अध्याय १५ में अनुग्रह किया है :-

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्टानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।'

इस श्लोक के मर्म को कौन सा अंग्रेजी, मुसलमान या हिन्दू विवाद कर सकता है ? अपितु सब स्वीकार करते हैं। कारण यह है कि प्रकृति के नियमों में से एक उत्कृष्ट नियम है जिसको वैज्ञानिक लोग स्वभाव का नाम देते हैं।

चिदानंदमय ब्रह्मप्रतिबिंब समन्विता ।
तमो रजः सत्वगुणा प्रकृतिद्विविधा च सा ॥ ३ ॥

सा च—और वह । **प्रकृति**—प्रकृति भी । **चिदानंदमय**—सच्चिदानंदमय । **ब्रह्म**—ब्रह्म के । **प्रतिबिंब**—आभास । **समन्विता**—सहित । **तमोः रजः सत्वगुणा**—सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण वाली । **द्विविधा**—दो प्रकार की है ।

टीका : यहां ग्रन्थकार ने चकार शब्द से तीन प्रकार की प्रकृति का निरुपण किया है । वेदान्त शास्त्र में इस अनुपम और अशक्यनिर्णयी सृष्टि को इस प्रकार निर्णय किया है । इस ब्रह्म की भिन्ना-भिन्न प्रकृति रुप शक्ति को प्रतिबिंबित करता है । जब यह प्रकृति साम्यावस्था में होती है, तब कुछ विद्यमान नहीं होता, जब इस प्रकृति रुप शक्ति को क्षोभ होता है तब पतिबिंब सहित सत्वगुण को शुद्ध सत्व और मलीनता सहित सत्वगुण के नाम से पुकारते हैं । इसके पश्चात् तमोगुण में प्रतिबिंब को तमः प्रधान प्रकृति कहते हैं । यह ही तीन प्रकृतियां इस सृष्टि का मूल कारण माना गया है । शुद्ध सत्वगुण के अभिमानी को ईश्वर और मलिन सत्व के अभिमानी को जीव बताते हैं ईश्वर स्वतंत्र है और जीव परतंत्र माना है और समस्त जड़वर्ग को तमः प्रधान प्रकृति कहते हैं । इसी प्रकार सृष्टि का ईश्वर इच्छा से निर्माण किया है । यहां शेवाचार्य पूज्यपाद अभिनवगुप्त जी का एक पद इस प्रतिबिंबवाद की पुष्टि करता है :-

स एव भैरवो देवो जगद्भरणलक्षण:।
स्वात्मादर्शे समग्रं हि यच्छक्त्या प्रतिबिंबितम् ॥

अर्थ : वह भैरव (ब्रह्म) देव जगत का पालन पोषक है और अपने आत्मस्वरुप शीशे में (दर्पण में) समस्त जड़चेतन रुप भावों को अपनी अभिन्न शक्ति से प्रतिबिंब का कारण है।

बिंब प्रतिबिंब बाद में तीन पदार्थों का स्वीकार करना अनिवार्य है जैसे अधिष्ठान जिसका बिंब लगता है और उपाधि जिसमें बिंब लगता है और प्रतिबिंब।

कई विचारवान इस दृश्यमान जगत को प्रकृति का स्वरुप मानते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। वास्तव में यह नामरुपात्मक जगत प्रकृति का कार्य है जिसका कारण शक्तिरुप प्रकृति है। शक्तिरुप प्रकृति और ब्रह्म दोनों अव्यक्त हैं और भिन्ना-भिन्न हैं। जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में कहा है :-

'परस्तस्मात्तु भावो न्यो व्यक्तो व्यक्तात्सनातन:।
य: स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

बन्ध और मुक्ति प्रकृति कार्य में ही हैं और इसी प्रकृति कार्य में गुरु शास्त्र और मुमुक्षु हैं और इसी प्रकृतिरुप जल को उपयोग में लाकर मुमुक्षु इस प्रकृति रुप जल को छोड़ कर मुक्ति धाम को प्राप्त होता है जैसे निम्न-लिखित शास्त्रपद से स्पष्ट है :-

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरकरण धारम्।
मयानुकूलेन नभ: सुतोरितं, पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥

प्रकृति रुप शक्ति को ब्रह्म से भिन्न भी और अभिन्न भी माना है। सौभाग्य से पूज्यपाद अभिनव गुप्त जी ने भी इसकी पुष्टि की है :-

'शक्तिः शक्तिमदूपाद्वयतिरेकं न वान्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्नि दाहकयोरिव ॥'

अर्थ : शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं है और शक्ति और शक्तिमान का सम्बन्ध अग्नि और उसकी दाहकता जैसी है। वेदान्त में अग्निरूप आश्रय और दाहक रुप शक्ति को भिन्न भी माना है और अभिन्न भी माना है। इस अग्नि की शक्ति को मणिमंत्र महोषधि से शक्ति रहित किया जा सकता है जैसा समस्त शास्त्रों ने स्वीकार किया है। मेरा विचार है शैवाचार्य ने भी अग्नि और दाहकता का उदाहरण देकर इस भिन्ना-भिन्न विषय की पुष्टि की है।

ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्वबोध विवर्जिताः ।
कुर्वंते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते ॥
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तां तरमाशु ते ।
व्रजंतो जन्मनोजन्म लभंते नेव निर्वृतिम् ॥ ४ ॥

प्रत्येक्—स्पष्ट। **तत्व बोधविर्वाजताः**—तत्व ज्ञान रहित। **ते**—वे। **पराग्दर्शिनः**—बाहर की ओर देखने वाले। **भोगाय**—भोग के लिए। **कर्म**—काम। **कुर्वंते**—करते हैं। **कर्म च**—और काम। **कर्तुं**—करने के लिए। **भुंजते**—भोगते हैं। **ते**—वह। **नद्यां**—नदी में। **कीटा इव**—कीटों की तरह। **आवर्तात्**—एक कुंड से। **आवर्तान्तरं**—दूसरे कुंड में। **आशु**—जल्दी से। **व्रजंतः**—जाते हैं। **जन्मनोजन्म**—एक जन्म से दूसरे जन्म में। **निर्वृति**—परमानंद सुख को। **नेव लभंते**—नहीं पाते हैं।

टीका : यह प्राकृतिक नियम है कि भोग के दो अंकुर होते हैं—एक भोग रूप अंकुर है और दूसरा वासना रूप। अज्ञानी जब भोग भोगता है तब भोग

करने के पश्चात् उसको फिर भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है और भोग की उपलब्धि के लिए काम कराती है। यह भोग और कर्म का चक्र नदी में कीटों के सदृश एक कुंड से दूसरे कुंड में तुरन्त जाते हैं यानि एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हैं और परम सुख शांति को प्राप्त नहीं करते हैं।

सत्कर्म परिपाकांते करुणानिधिनोद्धताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यंति यथासुखम् ॥ ५ ॥

सत्कर्म—सत्कर्म के। **परिपाकांते**—परिपाक के अंत में। **करुणानिधिना**—गुरुरूपी दया के खज़ाने ने **उद्धता**:—उद्धार करके। **तीर तरु**—किनारे के वृक्ष के। **छायां**—साये को। **प्राप्त**—प्राप्त करके। **यथासुखं**—सुखपूर्वक। **विश्राम्यंति**—विश्राम करते हैं।

टीका : शास्त्रों में निरुपण किये हुए कर्मों के अनुसार जब मुमुक्षु को अंत: करण शुद्धि हो जाती है तब शुद्धि से एक शक्ति उत्तेजन होती है जिसके प्रभाव से और देव इच्छा से इस जिज्ञासु को स्वयं श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ट गुरु मिल जाते हैं और इस जन्म जन्मांतर के चक्र से बाहर निकलता है जैसे जल के कुंडों में फंसे हुए कीटों को कोई दयावान किनारे के वृक्ष के नीचे आपेक्षक सुखकी प्राप्ति के लिए रखता है इसी तरह जिज्ञासु सद्गुरु के उपदेश से परम सुख की ओर बढ़ता है।

ताभ्यां निर्विचिकित्से र्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥ ६ ॥

ताभ्यां—श्रवन मनन के द्वारा। **निर्विचिकित्से**—संदेह रहित। **अर्थे**—अर्थ में। **स्थापितस्य**—स्थिर की हुई। **चेतसः**—मन की। **यत्**—जो।

एकतानत्वं—एकाकार वृत्ति है। एतत् हि—इसी को निश्चय रूप से ! निदिध्यासनं—निदिध्यासन। उच्यते—वेदशास्त्र कहते हैं।

टीका : शास्त्र और अनुभवी महात्माओं से पता चलता है कि गूढ़ श्रवण और मनन के पश्चात् एक अनिरुपणीय मन की वृत्ति उत्पन्न होती है। श्वेताश्वरोपनिषंत् के वक्तव्य के अनुसार यह वृत्ति भिन्न-भिन्न साधकों को भिन्न-भिन्न रूप से उत्पन्न होती है। किसी को नादरूप शब्द के रूप में किसी को ज्योति रूप या प्रकाश रूप में व्यक्त होती है। इसी वृत्ति पर मन की वृत्ति को स्थिर करना निदिध्यासन शब्द से उल्लेख किया है। इस निदिध्यासन में ध्याता, ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी का अनुभव रहता है। इस अभ्यास को सुदृढ़ करने के पश्चात् यह त्रिपुटी भी शांत होती है जैसे ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में निरूपण किया है।

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येचैक गोचरम्
निवातदीपवच्चितं समाधिरभिधीयते ॥ ७ ॥

ध्यातृध्याने—ध्यान करने वाला और ध्यान को। क्रमात —शनैः-शनैः परित्यज्य—त्याग करके। ध्येयैकगोचरं—ब्रह्म के केवल ध्येय को विषय वाला होकर। निवातदीपवत्—पवनरहित प्रदीप के समान। चित्तं—मन की परिस्थिति को। समाधिः—समाधि। अभिधीयते—कहते हैं।

टीका : समाधि का लक्षण ग्रन्थकार ने त्रिपुटी रहित अन्तः करण की वृत्ति का होना समाधि कहा है। जैसे पवन बिना प्रदीप ज्योति का एकरस होना। शास्त्रों में बहुत प्रकार की समाधि का निरुपण किया है जैसे सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि, आन्तरिक समाधि, बाह्य समाधि, जड़ समाधि, इत्यादि। त्रिपुटी रहित निर्गुण ब्रह्म विषयक समाधि निर्विकल्प समाधि कहते हैं और विकल्प सहित जिसमें त्रिपुटी का भास रहे सविकल्प समाधि कहते हैं।

आन्तरिक पदार्थ पर ध्येयरुपता से स्थित होना आन्तरिक समाधि कहा है। फिर बाह्मय पदार्थ पर ध्येयरुपता स्थित होना बाह्मय समाधि कहते हैं। जड़ समाधि जो बहुरुपी भिक्षु या मिस्मैरिज्म को पक्व करने के लिए जड़ पदार्थ पर ऐकाग्रय चित्त होना जड़ समाधि कहा है। यह सब समाधियां शनैः-शनैः ध्याता और ध्यान को परित्याग करके ध्येय रूपता पर स्थित होना हो सकता है।

धर्ममेद्यामिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येषयतो धर्मामृतधराः सहस्त्रशः॥ ८ ॥

योगवित्तमाः—ब्रह्म साक्षात्कारी योगी। **इमं**—इस। **समाधिं**—समाधि को। **धर्ममेंद्यं**—धर्मरूपी वर्षा। **प्राहुः**—कहते हैं। **यतो**—जिस कारण से **एष**—यह (समाधि)। **सहस्त्रशः**—हजारों। **धर्मामृत धारा**—धर्मरूपी अमृत धाराएं। **वर्षति**—वर्षा करती हैं।

टीका : समाधि का लाभ प्रत्यक्षः रूप से देखा गया है। इसी कारण से आचार्य ने इसको धर्ममेघ कहा है। योगियों को अष्टसिद्धिका जो प्रादुर्भाव होता हैवह भी इसी समाधि के कारण से है। आजकल मनोवैज्ञानिकों ने चित्तेकाग्रता के प्रति बहुत खोज की है। यह वैज्ञानिक इसको मजहब, मिल्लत, और स्त्री, पुरुष इत्यादि भावों से रहित मनुष्य मात्र की स्वाभाविक शक्ति समझते हैं। इसके प्रति आजकल बहुत खोज हो रही है। साधारणतया भी हम देखते हैं जिस मात्रा में यह चित्तेकाग्रता प्राप्त होती है, उसी मात्रा में यह मानुषिक शक्ति प्रकट होती है। वैज्ञानिकों का निश्चय है कि यह शक्ति किसी मात्रा में जन्म के साथ ही आती है तत्पश्चात इसकोअभ्यास से उत्पन्न किया जाता है, इत्यदि। इसको दूसरे मनुष्य में प्रवेश हो सकता है और यह शक्ति जिसको 'ह्यूमन मैग्नेटिज्म' वैज्ञानिक नाम देते हैं, परन्तु इसमें इतना रहस्य है कि जिस मात्रा में यह शक्ति का उत्तेजन किया हो, उसी मात्रा में यह फल देती है। यह

सत्कर्म से या साधुभाव से, स्वाध्याय, जप, प्राणायाम से उत्तेजित होती है। यह सत्कर्म इत्यादि चित्तेकाग्रय का साधन होते हैं और प्रत्येक शास्त्र में अंकित हैं। इसीलिये श्री भगवान ने कहा है :—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तृमिहार्हसि॥

शास्त्र पद से संकुचित अर्थ हिन्दू शास्त्र से ही नहीं करना चाहिए अपितु प्रत्येक मजहब के अनुयायियों के अपने अपने शास्त्र हैं। यह चित्तेकाग्रता की शक्ति अनिष्ट कर्म करने से नष्ट भी हो जाती है। ऐसा मनोवैज्ञानिकों का निश्चय है। इस चित्तेकाग्रय के फलस्वरुप शक्ति कई उदाहरण शास्त्रों में या इतिहास में प्रसिद्ध है। परन्तु यहां मैं अपने अनुभव किये हुए ऐसे उदाहरण का निरूपण करना अनुचित नहीं समझूंगा।

कुछ वर्ष पहले मैं एक सर्वमान्य मंडलेश्वर और उनके दो भक्तों को लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा आत्मा राम जी के आश्रम गुंड नौरोज़ दर्शन करने के लिए चला गया। उन दिनों मेरे पास बड़ी मोटर कार थी और आश्रम राज-मार्ग से दो मील कच्चे रास्ते पर था। इस कच्चे और संकुचित रास्ते के कारण हम सब कठिनता से आश्रम तक पहुंचे। रात भर वहां रह कर ज्ञान-ध्यान की बातें और भजन करते रहे। सुबह होते ही आकाश मेघ से छाया हुआ था और बूंदाबांदी होने लगी। कच्चा रास्ता और बड़ी मोटर होने के कारण हमने महर्षि आत्मा राम जी से भोजन करने से पहले ही वापस जाने की अनुमति चाही। साधु आत्माराम जी ने कहा कुछ चिन्ता मत कीजिए। आपके भोजन करने तक सूर्य नारायण निकल आयेंगे और आप अच्छी तरह वापस जायेंगे। महाराज की मानसिक शक्ति के कारण वैसा ही हुआ।

दूसरी घटना इस तरह है कि एक सम्पत्तिवान घर का इकलौता पुत्र बहुत बीमार रहा। बहुत डाक्टर वैद्य हकीम तथा साधु तंत्र विद्या में निपुण

ने इस बालक का ज्वर दूर नहीं किया। इस बालक की माता निराश होकर अपने कुल पुरोहित सिद्धभायू के पास जाकर रुदन करने लगी। सिद्धभायू ने दया से आवृत होकर एक भोजपत्र पर केसर से लिखा हुआ एक यंत्र दिया। यंत्र को बालक के गले में डालने के साथ ही उसका ज्वर निवृत हुआ। सब विस्मित हुए और देखना चाहा कि यह किस देवी या देवता का यंत्र है। जब भोजपत्र यंत्र को खोला गया तो देखा कि इसमें चार अक्षर त, प, व, और स लिखे हैं जिसका काश्मीरी में अर्थ तप, दूर हो जाओ होता है। यह भी एक मन की शक्ति का चमत्कार था। इसी तरह मन की शक्ति के कई चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं। इस शक्ति को न मानने वाले कहते हैं कि यह चांस है। चांस भी बिना कारण, जो साधारण मनुष्य की बुद्धि में नहीं आ सकता, के बिना नहीं हो सकता।

इसी कारण से चित्तेकाग्रय रूप समाधि को धर्मरुप मेघ के साथ उपमा दी गयी है जो हज़ारों अमृतरुपी वर्षा का कारण बन सकता है। चित्तेकाग्रय का इतना प्रबल फल है कि अनीश्वरवादी वैज्ञानिक भी इस चित्तेकाग्रय को अर्जन करने के लिए शिक्षा करते हैं।

अमुना वासनाजाले निः शेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥ ९ ॥

अमुना—इस समाधि से। **निः शेषं**—सम्पूर्ण। **वासनाजाले**—वासना के जाल को। **प्रविलापिते**—नाश करती है। **पुण्यपापाख्ये**—पुण्य पाप नाम वाले। **समूल**—मूल सहित। **कर्मसंचये**—कर्मों के भंडार को। **उन्मूलिते**—जड़ से उखाड़ देती है। (यह समाधि)

टीका : समाधि लाभ के अन्य दृश्यमान फलों के अतिरिक्त यह समाधि वासना रुपी जाल को भी नष्ट करती है। यहाँ ग्रन्थकार ने पुण्य और पाप के

वासना को संकेत किया है। कारण यह कि पुण्य पाप रूपी वासना ही हमारे भावी जन्म का कारण होता है। वास्तव में पुण्य भी पाप के समान बन्धक है, जैसे कहा है :-

लौह सुवर्ण भेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते।

हथकड़ी सोने की हो या लोहे की, हथकड़ी ही होती है जो बन्धन का कारण बनती है। जीव को पुण्य पाप से मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यह नियम है। पुण्य क्या है और पाप क्या है, इसका विचार व्यक्तिगत ही होता है अर्थात् समस्त शास्त्र, गुरु उपदेश और लोकाचार इत्यादि को स्व-व्यक्तिगत विचार ही प्रामाणिक करता है। और यह व्यक्तिगत विचार देश, काल और वस्तु से परिछिन्न है।

इति तत्वविवेक प्रकरणं समाप्तम्।

--: अथ महा भूतविवेक प्रकरणम् :—

इदं सर्वं पुरासृष्टेरेकमेवा द्वितीयकम्।
सदेवासीन्नमरुपे नास्तामित्यारुर्णेव चः ॥ १ ॥

सृष्टेः पुरा—सृष्टि से पहले। इदं—यह जगत। **सर्व**—सब। **एकं**—एक ही। **अद्वितीयकम्**—दूसरे के बिना। **सदेव**—केवल सद्‌प ही। **आसीत**—था। **इति**—इस प्रकार। **नामरुपे**—नाम और रुप। **नास्ताम्**—नहीं थे। **आरणेवंचः**—अरुण के पुत्र उद्दालक ने भाषण किया है।

टीका : सृष्टि का विस्तार शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रुप से किया गया है। कहीं कृम सृष्टि बताई है तो कहीं अक्रम सृष्टि बताई गयी है। और वेदान्त में भिन्न-भिन्न वादों में भिन्न-भिन्न सृष्टियों का निरुपण किया गया है, जैसे अध्यारोप अपवाद, विवृत वाद, दृष्टसृष्टिवाद, एकजीव वाद, इत्यादि।

वैज्ञानिकों ने भी इस सृष्टि की आदि का बहुत खोज किया है। उनका विचार है कि यह सृष्टि एक 'बैंग' यानि शब्द के साथ प्रकट हुई। कई वैज्ञानिकों का विचार है कि यह सृष्टि परमाणु और कर्णाणु से उत्पन्न हुई है। कईयों का विचार है कि यह सृष्टि कीटाणुओं से प्रगति करते करते उपलब्ध हुई है। सृष्टि कैसे हुई और क्यों हुई, यह अत्यन्त जटिल होने के कारण जीव की तीक्ष्ण बुद्धि से भी नहीं समझा जाता।

चाहे जो भी हो इस विषय पर सर्वसाधारण मनुष्य तथा वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि सृष्टि से पूर्व कुछ न कुछ था। इसी बात को दृष्टिगोचर रखकर अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ने श्रुतिवाक्य को इस श्लोक में निरुपित किया है। श्रुति वाक्य में पुनरुक्ति नहीं होती है। इस वाक्य में एवं एकम् अद्वितीयकम् समान अर्थ होने के कारण पुनरुक्ति का आक्षेप शास्त्रों ने इस तरह निरूपण किया है।

भेद तीन प्रकार का है, एक स्वगत भेद दूसरा सजातीय भेद तथा तीसरा विजातीय भेद। जैसे मनुष्य को अंग प्रत्यंग का स्वगत भेद कहा है। दूसरे मनुष्य के साथ सजातीय भेद माना है और अन्य पाषाण वृक्ष इत्यादि के साथ विजातीय भेद माना है। विचारवानों का निश्चय है कि एव, एकम् अद्वितीयकम् तीन भेदों का निराकरण किया है। एव पद से स्वगत भेद का, एकम् पद से सजातीय भेद का और अद्वितीयकम से विजातीय भेद का निराकरण किया है। अतः सृष्टि से पूर्व नामरुप रहित और भेदत्रयी रहित सद्रूप ब्रह्म ही था यही रहस्य इस श्लोक में उद्दालक ऋषि ने व्यक्त किया है।

अस्पर्शयोगो नामेष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥ २ ॥

एष—यह। **अस्पर्शयोगो**—निर्विकल्प समाधि। **नाम**—निश्चय करके **सर्वयोगिभिः**—और सब सगुण ब्रह्म के उपासकों को। **दुर्दर्शः**—दुःख से देखने वाली है। **हि**—क्योंकि। **योगिनो**—अन्य सगुण योगी। **अस्मात्**—इस। **अभये**—भय रहित। **भयदर्शिनः**—भय देखने वाले। **बिभ्यति**—डरते हैं।

टीका : निर्विकल्प समाधि अत्यन्त भयरहित अवस्था है परन्तु जीव जो कि द्वैतरूपी भेद में रंगा हुआ है इस निर्विकल्प समाधि से डरते हैं। आपातता से अन्य जनों के मध्य में रहकर विजनस्थान अच्छा लगता है पर जब यह साधक एकांत विजनस्थान में जाता है तो वहां उसको भय लगता है क्योंकि वहां कुछ नहीं है। कई साधकों ने मुझसे प्रकट किया है कि जंगल में जाकर हम मन को एकाग्र नहीं कर सकते हैं। इसके लिए अभ्यास और पुरुषार्थ की आवश्यकता है। नहीं तो एकांत और मौन में उपासक को जो आनन्द मिलता है, वह कहीं भी उसको उपलब्ध नहीं हो सकता है। जैसे कहा है—'एकांते सुखमास्तां परतरे चेतः समाधीयताम्।

चोद्यं वा परिहारोवा क्रियतां द्वैताभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यां नास्ति नापि तदुत्तरम्॥ ३॥

द्वैतभाषया—द्वेत में ही। **चोद्यं वा**—प्रशन या। **परिहारो वा**—उत्तर। **क्रियतां**—किया जाता है। **अद्वैतभाषया**—अद्वैत भाषा में। **चोद्यं**—तो प्रशन। **नास्ति**—नहीं होता है। **नापि**—नहीं। **तदुत्तरम्**—उसका उत्तर होता है।

टीका : गुरुशास्त्र ज्ञानविज्ञान बंधमोक्ष प्रश्न उत्तर सब द्वैत में ही सम्भव है। अद्वैत का पाठ भी और ज्ञान भी द्वैत में ही होता है। अद्वैत में कुछ व्यवहार नहीं हो सकता जैसे माया रुपी जल को पीछे छोड़ कर माया रहित

के पास पहुंच जाते हैं। यहां पर श्रीमान पूज्यपाद अभिनवगुप्त जी का एक पद समीचीन होगा :-

एतौ बंधविमोक्षौ च परमेश्वर स्वरुपतः ।
न भिद्यते न भेदो हि तत्वतः परमेश्वरे ॥
तदास्तिमितगंभीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनारव्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥ ४ ॥

तदा—उस सृष्टि से पूर्व। **स्तिमित**—निश्चल। **गंभीरं**—अगाध। **न तेजो**—न प्रकाश। **न**—न। **तमः**—अंधेरा। **ततम्**—व्यापक। **अनारव्यं**—जिसका नाम न लिया जाए। **अनभिव्यक्तं**—जो किसी इंद्रिय से न देखा जाए। **सत्**—सद्ब्रह्म। **किंचित**—कोई वस्तु। **अवशिष्यते**—शेष रहता है।

टीका : यह ब्रह्म चिंतक के लिए सद्ब्रह्म का ध्यान करने के लिए विशेषण कहे हैं। वास्तव में वह सद्ब्रह्म अनुभवस्वरुप होने के कारण अनुभव नहीं किया जाता किन्तु ध्यान के लिए यह विशेषण काम आते हैं। जब तक यह साधन 'न किंचिदपिचिंतयेत्' के पद तक नहीं पहुंचता वह दशा कोई निर्णय नहीं कर सकता और साधक को स्वसंवेद्य है।

अत्यंतं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥ ५ ॥

यथा—जैसे। **अत्यंतं**—अत्यंत। **निर्जगत्**—जगत से रहित। **व्योम**—आकाश। **ते**—तुम्हारी। **बुद्धिं**—बुद्धि में। **आश्रितं**—स्थित है। **तथैव**—

वैसे ही। **सत्**—सद्ब्रह्म। **निराकाशं**—आकाश के बिना। **ते**—तुम्हारी। **मति**—बुद्धि में। **कुतो**—क्यों। **न आश्रयते**—नहीं स्थित होता है।

टीका : ग्रन्थकार परमाणुवादी पूर्वपक्षी को आकाश की स्थिति मनवा कर यह प्रश्न करता है कि आकाश बिना सद्ब्रह्म तुम्हारी बुद्धि में क्यों नहीं स्थित होता है।

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम्॥ ६ ॥

चेत्—यदि कहो। **सद्बुद्धि**—सद्बुद्धि। **अपि**—भी। **नास्ति**—नहीं रहती। **मा अस्तु**—मत रहे। **अस्य**—यह। **स्वप्रभत्वतः**—स्वप्रकाश होने के कारण। **नृणां**—मनुष्यों को। **निर्मनस्कत्व**—मन रहित अवस्था का। **साक्षित्वात्**—साक्षी होने से। **सन्मात्रं**—सद्ब्रह्म मात्र (का जानना) **सुगमम्**—सुगम है।

टीका : जिस अवस्था में साधक मन रहितता में कुछ नहीं जानता, आचार्य का कहना है कि इस मनरहित अवस्था का कैसे स्मरण होता है, स्मृति उसी पदार्थ की हो सकती है। जो अनुभव किया हो। इस तरह सद्ब्रह्म का अनुभव साक्षीरुपता से सिद्ध होता है। कारण यह है कि यह साक्षी स्वप्रकाश अनुभव रुप है।

निस्तत्वाकार्यगम्या स्य शक्तिर्मायाग्नि शक्ति वत्।
नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा॥ १६ ॥

अस्य—इस परब्रह्म की। **माया शक्तिः**—माया रुपी शक्ति। **अग्निशक्तिवत्**—अग्नि शक्ति की तरह। **निस्तत्वा**—किसी स्वरुप के बिना।

कार्यगम्या—कार्य से जानने वाली । **कार्यातः पुरा**—कार्य से पहले । **क्वचित्**—कहीं । **कैश्चित्**—किसी से । **शक्ति**—यह शक्ति । **न बुध्यते**—नहीं जानी जा सकती है ।

टीका : यहां यह रहस्य है कि शक्ति अपने कार्य से पहले नहीं जानी जा सकती है । अर्थात् जैसे परब्रह्म अवाङ्गनोगम्य है, वैसे ही यह शक्ति भी अवाडगनोगम्य है । श्री मद्भगवद्गीता ने इस श्लोक से इसको निरुपित किया है :-

परस्तस्मातु भावो न्यो व्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यते ॥

इस नाम रुपात्मक जगत को वेदांत शास्त्र में शक्ति कार्य माना है और कारण जो शक्ति है, वह अव्यक्त है ।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ।
मूच्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥ १७ ॥

नीरोग—रोग से रहित । **उपविष्टोवा**—या बैठा हुआ । **रुग्णो वा**—या रोगी । **विलुठन् भुवि**—पृथ्वी पर लौटता हुआ । **मूच्छितो वा**—या मूर्च्छा से । **एष**—यह विद्वान । **प्राणान्**—प्राणों को । **त्यजतु**—त्याग करे । **न**—नहीं । **भ्रान्तिः**—इस विद्वान को भ्रान्ति । **सर्वथा**—किसी प्रकार से होती है ।

टीका : प्रायः देखा गया है कि सांसारिक लोग इस विद्वान के मरणकाल की शारीरिक अवस्था का बहुत महत्व मानते हैं । यह भी देखा गया है कि कितने भक्तजनों ने अपने गुरुजनों को मरने के पश्चात् उनके शरीर को

तकिया लगाकर बिठा के रखा है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से इस विद्वान के मरण काल के शरीर की अवस्था का कोई महत्व नहीं है। विद्वान को किसी तरह की भ्रान्ति नहीं होती है। चाहे वह रोग रहित हो या रोगी हो या बैठा हुआ हो, या भूमि पर लुढ़कता हुआ मूर्च्छित होकर प्राणों का त्याग करे। यहां कुछ संसारी लोगों का विश्वास है कि मरणकाल के भगवन्नाम से ही उत्तम गति प्राप्त होती है। पर ऐसा नहीं है। इसीलिये भगवान् ने गीता में, 'सदा तद्भावभावित:' का विशेषण आवश्यक समझा है।

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृते प्ययम्।
परेद्युर्नानधीत: स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति॥ १८ ॥

अयं—यह। **अधीते**—अध्ययन किया हुआ। **दिने-दिने**—प्रति दिन। **स्वप्नसुप्त्यो:**—स्वप्न और सुषुप्ति में। **विस्मृते अपि**—यदि भूल भी जाता है। **परे द्युः**—दूसरे दिन। **अनधीत:**—न पढ़ा हुआ। **न स्यात्**—नहीं होता है। **तद्वत्**—इसी तरह। **विद्या**—विद्या। **न नश्यति**—नहीं नाश होती है।

टीका : यह सर्वसिद्ध अनुभव है कि यदि हम आज कुछ पढ़ें और फिर स्वप्न और सुषुप्ति में उसे भूल जायें, दूसरे दिन वह न पढ़ा हुआ सा नहीं लगता है। कारण यह है कि जीव के अन्त:करण में अचिन्त्य शक्ति होने के कारण सब प्रकार के संस्कार संचित रहते हैं। यह सर्वसिद्ध बात है कि यदि हम सारा दिन होम करते रहें तो प्राय: स्वप्न में भी वही व्यवहार देखा जाता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर के त्यागने पर हमारे सूक्ष्म शरीर में वह सब संस्कार संचित रहते हैं जिनका हमने आजीवन अभ्यास किया हो और यही हमारे भावी जन्म का कारण होता है जैसे एक कान्च के घट में

भिन्न-भिन्न रंग के बिन्दु पड़े हों तो अन्त में जो बिन्दु अधिकता से इस घट में पड़े हों वही रंग प्रधानता से दृष्टि में आता है। यही उपमा हमारे अन्तःकरण की है। इसी कारण से श्री भगवान ने 'सदतद्भावभावित:' का विशेषण विशेषकर व्यक्त किया है।

इति महाभूतविवेक प्रकरण।



अथ पंचकोष विवेक प्रकरणम्।

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता।
ज्ञातृज्ञानांतराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया॥ १६ ॥

स्वयम् एव—आप ही। **अनुभूतित्वात्**—अनुभव स्वरुप होने के कारण। **अनुभाव्यता**—अनुभव कर्त्तापन अर्थात् ज्ञेयरुपता। **न विद्यते**—नहीं है। **ज्ञातृ**—ज्ञाता। **ज्ञानांतर**—(और) दूसरे ज्ञान के। **अभावात्**—अभाव से। **अज्ञेयः**—न जाननीय है। **न तु**—नहीं निश्चय करके। **असत्तया**—असत्ता के कारण।

टीका : वेदान्त के दार्शिकों ने चैतन्य अवच्छिन्न वृत्ति को ही ज्ञान माना है अर्थात् वृत्ति की उपाधि से ही साक्षात्कार होता है। यह वृत्ति द्वैत प्रपंच के अन्तर्गत ही है। अतः ज्ञान भी द्वैत प्रपंच में ही है। साधक का अन्तःकरण त्रिगुणात्मक होने के कारण सत्वगुण की वृत्ति से जाना जाता है। इस वृत्ति को चरमवृत्ति कहते हैं। यहां वृत्तिव्याप्ति और फल व्याप्ति न्याय समीचीन विदित होता है। यदि अंधकार में कोई वस्तु कूण्डे के नीचे छिपी हुई हो तो उसको देखने के लिए मन की वृत्ति के अतिरिक्त

दूसरे प्रकाश की अपेक्षा होती है। इसी को वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। यदि अंधकार में कूण्डे के नीचे प्रकाशमान रत्न हो तो वहां रत्न को देखने के लिए कोई दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती, इसको फलव्याप्ति के नाम से पुकारते हैं। वृत्ति आवरण का भंग करती है और वृत्तिअवच्छिन्न चैतन्य उस पदार्थ को प्रकाश करती है। इसी प्रकार साक्षात्कार करने के लिए वृत्ति की अपेक्षा रहती है और चैतन्य ब्रह्म स्वप्रकाश होने के कारण अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। जब वृत्ति आवरण का भंग करती है तो स्वयं भी उस आवरण के अंतर्गत होने के कारण नष्ट होती है। तत्पश्चात् चैतन्य ब्रह्म स्वप्रकाश ही अद्वैत रुप से सदा सर्वदा स्थिर रहता है। यही भाव ग्रन्थकार ने प्रकट किया है। अर्थात वह चैतन्य ब्रह्म स्वयं अनुभवरूप होने के कारण अनुभाव्यता की अपेक्षा नहीं रखता। अन्य ज्ञाता और ज्ञान के अभाव से यह चैतन्य ब्रह्म न जानने योग्य है परन्तु असत्ता के कारण यह चैतन्य ब्रह्म न जानने के योग्य नहीं है।

स वेत्तिवेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता।

विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरुपकम् ॥ २० ॥

स—वह परब्रह्म। **तत् सर्वं**—उस समस्त। **वेद्यं**—अनुभव करने योग्य प्रपंच को। **वेत्ति**—जानता है। **अन्यः**—दूसरा कोई। **तस्य**—उस आत्मा को। **वेदिता**—जानने वाला। **न अस्ति**—नहीं है। **विदित अविदिताभ्यां**—जाने और न जाने दोनों से। **तत्**—वह ब्रह्म। **पृथक्**—अलग। **बोधस्वरुपकम**—ज्ञान स्वरुप है।

जिह्वामे स्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा।

न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥ २१ ॥

यथा—जैसे। **जिह्वा**—जीभ। **में अस्ति**—मुझे है। **न वा**—या नहीं है। **इति उक्तिः**—ऐसा कहना। **केवलं**--केवल। **लज्जायै**—लज्जा ही है। **मया**—मैंने। **बोधो**—ज्ञान स्वरूप को। **न बुध्यते**—नहीं जाना। **बोधव्यः**—जाननीय है। **इति**—ऐसा कहना। **तादृशी**—वैसा ही है।

टीका : कितने ही सज्जन यह आक्षेप करते हैं कि इस ब्रह्म चैतन्य को किसने देखा है ? दयालु आचार्य उनका ध्यान दृष्टांत के द्वारा इस रहस्य की ओर ले जाना चाहते हैं अर्थात् यदि ब्रह्म चैतन्य को किसी ने देखा नहीं परन्तु वह प्रश्नकर्ता ही स्वयं ब्रह्म चैतन्य है। जैसे कोई जीभ से कहता है—'क्या मेरी जीभ है'। ऐसा ही लज्जायुक्त यह कहना होगा कि मैंने ब्रह्म चैतन्य को नहीं देखा है, न जाना है। यदि वह ब्रह्म चैतन्य ही सब कुछ अनुभव करता है और वही ऐसा आक्षेप भी करता है।

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तात्तदुपेक्षणे।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवं धीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥ २२ ॥

लोके—संसार में। **यस्मिन्यस्मिन्**—जिस जिस पदार्थ में। **बोधः**- ज्ञान। **अस्ति**—है। **तत्-तत्**—उस उस पदार्थ की। **उपेक्षणे**—छोड़ कर। **यत्**—जो। **बोधमात्रं**-ज्ञान मात्र है। **तत्**—वह ज्ञान मात्र। **ब्रह्म**-ब्रह्म है। **इति एवं धीः**—ऐसे निश्चय को। **ब्रह्म निश्चयः**—ब्रह्म निश्चय कहते हैं।

टीका : जो जो पदार्थ संसार में जाने जाते हैं, उनका तात्विक दृष्टि से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय होता है। ज्ञेय से ज्ञान पृथक होता है। जब साधक पदार्थ रूपी ज्ञेय को पृथक करके ज्ञान मात्र को ही निश्चय करता है, उसी को ब्रह्म निश्चय कहते हैं। कारण यह कि ब्रह्मचैतन्य स्वयं ज्ञानरूप है।

कीदृक् तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि !
यदनीदृगतादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥ २३ ॥

तर्हि—इसलिये। कीदृक्—कैसा है वह। इति—ऐसा। चेत्—यदि। पृच्छेत्—पूछोगे। तत्र—उस आत्मा में। ईदृक्ता—ऐसा भाव। नास्ति हि—नहीं है। यत्—जो। अनीदृक्—न ऐसा है। अतादृक् च—और न वैसा है। तत्—उसी का। स्वरूपं—स्वरूप। विनिश्चिनु—निश्चय करो।

टीका : पूर्व पक्षी को आचार्य उंगली निर्देश करके ब्रह्मात्मा को नहीं दिखा सकते हैं। न ही परोक्षता से ब्रह्मात्मा को निर्देश कर सकते हैं, इसलिये कहते हैं जो न ऐसा है और न वैसा है, उसका स्वरूप जानो।

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥ २४ ॥

अक्षाणां—इन्द्रियों के। विषयः तु—विषय को। ईदृक—'ऐसा' कहते हैं अर्थात् 'यह'। परोक्षः—और परोक्ष को। तादृक—वैसा या वह। उच्यते—कहते हैं। विषयी—जानने वाला। न अक्षविषयः—इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। स्वत्वात्—स्वयं होने के कारण। अस्य—इस जानने वाले की। परोक्षता—परोक्षा। न—नहीं है।

टीका : यदि इस आत्मा को किसी इंद्रिय से नहीं जाना जा सकता तथापि यह अपना आप होने के कारण परोक्ष भी नहीं हो सकता। इसी व्यवस्था से आचार्य ने ईदृक् और तादृक् पद का निराकरण किया है।

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यतेवियत्।
शवयेषु बाधितेष्वंते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥ २५ ॥

मूर्तेषु—नाम रूपादि पदार्थ। **अपनीतेषु**—दूर किया हो। **हि**—निश्चय करके। **अमूर्तं**—नाम रूप से रहित। **वियत्**—आकाश। **शिष्यते**—शेष रहता है। **शक्येषु**—जो पदार्थ दूर किये जा सकते हैं। **बाधितेषु**—बाध करने योग्य जो। **अन्ते**—उनके अन्त में। **यत्**—जो। **शिष्यते**—शेष रह जाता है। **तत्-एव**—वही। **तत्**—वह है।

टीका : अब आचार्य ब्रह्मचिन्तकों के लिए सुगम उपाय का निरुपण करते हैं—जब चिन्तन के समय साधक समस्त नामरुपात्मक पदार्थों को अपनी वृत्ति के द्वारा निराकरण करता है, उसको अगाध आकाश के बिना कुछ प्रतीत नहीं होता, आचार्य कहते हैं कि जब यह अमूर्त आकाश भी निराकरण किया जाए फिर जो शेष रहता है, वही वह ब्रह्म चैतन्य है।

सर्वबाधेन किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत्।
भाषा एवात्र भिद्यंते निर्वाधं तावदस्ति हि॥ २६ ॥

सर्वबाधे—सब निराकरण करने के बाद। **चेत्**—यदि। **न किंचित**—कुछ भी नहीं रहता है। **यत्**—जो। **न किंचित**—कुछ भी नहीं है। **तत्-एव**—वही। **तत्**—वह (ब्रह्म) है। **अत्र**—इस प्रसंग में। **भाषाएव**—वाचक शब्द ही। **भिद्यंते**—भिन्न-भिन्न हैं। **निर्वाधं**—निराकरण करने अयोग्य। **तावत्**—तो। **अस्ति हि**—निश्चय करके है।

टीका : श्री भगवान ने गीता के छटे अध्याय में अंकित किया है :

शनै : शनैरूपरमेद्‌बुद्‌धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत॥

साधक को इसी अवस्था पर पहुंचना है जहां अन्य कोई चिन्तन नहीं वहां

वह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही है। अब इस अवस्था के नाम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। परन्तु वह अवस्था एक ही है चाहे जो भी साधक हो।

न व्यापित्वाद्देशतों तो नित्यत्वान्नापि कालत: ।
न वस्तुतो पि सर्वात्म्यादानंत्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥ २७ ॥

व्यापित्वात्—व्यापक होने के कारण। देशतो (देशत:)—देश से। न अंत:—परिच्छिन्न नहीं है। नित्यत्वात्—नित्य होने के कारण। नापि-कालात:—काल से भी परिच्छिन्न नहीं है। सर्वात्म्यात्—सब का आत्मा होने के कारण। वस्तुत: अपि न—वस्तु से भी परिच्छिन्न नहीं है। एवं—इसी प्रकार। ब्रह्मणि—ब्रह्म की। आनंत्यं—अनंतता (अपरिच्छिन्नता)। त्रिधा—तीन प्रकार की है।

टीका : ब्रह्म से अतिरिक्त सब पदार्थ देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न हैं और शेष अर्थ स्पष्ट है।

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तु नियामिका ।
आनंदमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥ २८ ॥

आनंदमयम्—आनन्दमय कोश से। आरम्य—आरम्भ करके। गूढा—छिपी हुई। सर्वेषु वस्तुषु—सब वस्तुओं में। काचित्—कोई अलौकिक। ऐश्वरी शक्ति:—ईश्वर की (ब्रह्म की) शक्ति। अस्ति—करती है। सर्ववस्तु नियामिका—सब वस्तुओं का नियमन (शासन)।

टीका : यह माया शक्तिवाद अत्यंत जटिल है। कई विचारवान कहते हैं यह शक्ति ब्रह्म से भिन्न है और कइयों का निश्चय है कि यह अभिन्न है। पूज्यपाद अभिनवगुप्ताचार्य ने एक स्थान पर कहा है– 'मायेयं न

चिद्द्वयात्परतया भिन्नाप्य ः़ो वर्तते' (यह माया शक्ति अद्वैत चैतन्य से भिन्न होने के कारण, आश्चर्य है, स्थित है) कई विचारवान माया के अन्तर्गत होते हुए भी कहते हैं कि है ही नहीं। विद्वान मैक्समूलर का निश्चय है कि जब तक इस माया शक्ति को स्वीकार नहीं करेंगे, कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती है। इस माया शक्ति का कार्य रुप पांच कोष हैं- अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। 'कोष' आच्छादन को कहते हैं। यह चैतन्य आत्मा इन पांचों कोषों से ढका हुआ है। माण्डूक्योपनिषद् के वक्तव्य के अनुसार इस माया शक्ति के कार्य आनन्दमय कोष में सब प्राणियों का ऐक्य होता है। यह जो भेद प्राणी और प्राणी में है यह स्थूल और सूक्ष्म जगत में है। इसी तरह आचार्य ने वक्तव्य किया है कि ईश्वर की शक्ति आनन्दमय कोष से आरम्भ होती है, सुषुप्ति में सब जीव जगत का ईश्वर के साथ ऐक्य हो जाता है।

इति पंचकोशविवेक प्रकरणं समाप्तम्



अथद्वैतविवेक प्रकरणम्।

विस्फुलिंगा यथा वह्नेर्जायंते क्षरतास्तथा।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः॥ २६ ॥

यथा—जैसे। वह्नेः—अग्नि से। विस्फुलिंगाः—चिंगारियां। जायंते—उत्पन्न होती हैं। तथा—वैसे ही। अक्षरतः—अक्षर ब्रह्म से। विविधाः—नाना प्रकार। चिज्जडाः—चैतन्यरुप और जड़ रुप। भावाः—पदार्थ (उत्पन्न होते हैं)। इति—यह। अथर्वणिका—अथर्वण वेद की। श्रुतिः—श्रुति है।

टीका : अर्थ स्पष्ट है।

चैतन्य यदधिष्ठानं लिंगदेहश्चयः पुनः।

चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥ ३० ॥

यत्—जिस का। **चैतन्यं**—चैतन्य ब्रह्म। **अधिष्ठानं**—आधार है। **पुनः**—और। **यश्च**—जो। **लिंगदेहः**—सूक्ष्म शरीर है। **लिंगदेहस्था**—सूक्ष्म शरीर में। **चिच्छाया**—चैतन्य ब्रह्म का आभास है। **तत्संघः**—उनका संगठन। **जीवः**—जीव। **उच्यते**—कहलाता है।

टीका : ओत प्रोत चैतन्य ब्रह्म का आभास उपाधि लिंग शरीर में पड़ता है। जब ऐसा हो जाए तब इसको जीव कहते हैं।

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः।

समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥ ३१ ॥

बाह्यार्थे—बाह्य पदार्थ। **असत्यपि च**—यदि नहीं भी हों। **नरः**—मनुष्य। **स्वप्नादौ**—स्वप्न और समृति में। **बध्यते**—बांधा जाता है अर्थात् प्रभावित होता है। **अस्मिन्**—यह बाह्य व्यावहारिक पदार्थ। **सति अपि**—यदि उपस्थित भी हों। **समाधि सुषुप्ति मूर्च्छासु**—समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा में (यह मनुष्य)। **न बध्यते**—बंधन को प्राप्त नहीं होता।

टीका : वेदान्त दार्शनिकों ने जीव जगत और ईश जगत को भिन्न-भिन्न बताया है। और इसी जीव जगत से साधक सम्बन्धित है अर्थात् मानसिक जगत ही साधक के बन्ध और मुक्ति का कारण है। जैसे बाह्य जगत में कितना ही दुःख सुख क्यों न हो, स्वप्न और स्मृति में मनुष्य उससे प्रभावित नहीं होता, यथा च समाधि सुषुप्ति मूर्च्छा में बाह्य सुख दुःख के कारण

पदार्थ उपस्थित भी हों, यह साधक प्रभावित नहीं होता। कारण यह कि समाधि सुषुप्ति मूर्च्छा मनोमय जगत का कारण है। इस श्लोक में आचार्य ने मनोमय जगत के महत्व का उल्लेखन किया है।

दूरदेशंगते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलंभकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥ ३२ ॥

मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतः सर्वस्य जीवस्य बंधकृन्मानसं जगत् ॥ ३३ ॥

पुत्रे—पुत्र। **दूरदेशंगते**—दूर देश को गया हुआ। **जीवति एव**—जीवित भी यदि है। **अत्र**—यहां (घर में)। **तत्पिता**—उसका पिता। **विप्रलंभक**—झूठ बोलने वाले के। **वाक्येन**—कहने से। **मृतं**—मरा हुआ। **मत्वा**—मान कर। **प्ररोदिति**—रोता है। अथवा। **तस्मिन्**—वह (पुत्र)। **मृते अपि**—मरा हुआ भी हो। **वार्तायां**—(मरने की) वार्ता। **अश्रुतायां**—न सुनी हो। **न रोदिति**—रोता नहीं है। **अतः**—इस कारण से। **सर्वस्य**—सब। **जीवस्य**—जीवों को। **मानसं**—मानसिक। **जगत्**—संसार। **बंधकृत**—बंध करने वाला है।

टीका : इस प्रकार की घटना सर्वसिद्ध है। एक समय की बात है कि एक जेबकुतरे ने रेल में किसी अन्य यात्री का बटुआ चुरा कर छलांग मारी और उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो गया। पुलिस ने बटुए पर नाम के अनुसार उसके घर वालों को उसके मरने की सूचना भेज दी। यदि वास्तव में वह जीवित था, घर वालों ने रोना-पीटना शुरु करके शोक प्रगट किया। जब यह जीवित युवक घर पहुंचा तब सारी घटना का निरुपण किया। इस प्रकार ग्रन्थकार ने मनोमय और माँसमय जगत का निरीक्षण किया।

अथवा

पुत्र मरा भी हो, जब तक उसके माता पिता को सूचना न मिले, तब तक वह शोक नहीं करते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि प्रति जीव को मनोमय जगत ही बन्धन को प्राप्त करता है। ऐसा ही श्री मद्भागवत्कार ने एक स्थान पर कहा है :-

नायं जनो में सुख दुःख हेतु, नं देवता ग्रह कर्मकालः।
मनः परं कारणमामनन्ति, संसार चक्रं परिवर्तयेद्यः॥

यह लोकजन मेरे दुःख और सुख के कारण नहीं है। नहीं देवता, न ग्रहों का चक्र न कर्म, न समय कारण हैं। केवल मन ही को सुख-दुःख का हेतु माना है जो मन इस संसार चक्र को फिराता है।

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ॥ ३४ ॥

ईश्वरनिर्मितं—ईश्वर ने बनाया हुआ। **द्वैतं**—द्वैत। **अबाधकं**—रुकावट डालने वाला नहीं है। **साधकं च**—(अपितु) लाभदायक है। **अपनेतुं**—इस ईश्वर द्वैत को दूर करने में। **अशक्यं च**—(हे पूर्व पक्षी) तुम असमर्थ भी हो। **तत्**—उस द्वैत को। **कुतः**—क्यों। **इति आस्तां**—इस तरह वह ईश्वर द्वैत प्रवर्तन में आए। **द्विष्यते**—द्वेष करते हो।

टीका : कितने ही साधक अपने व्यक्तिगत त्रुटि के कारण घरबार तथा सम्बन्धियों को बाधा करने वाला समझ कर परित्याग करते हैं। यदि घर बार इत्यादि को शास्त्ररीति के अनुसार उपयोग में लाया जाए तो यह लाभदायक प्रतीत होता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में कहा है :-

'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।'

यदि देखा जाए तो गुरु, शास्त्र इत्यादि भी ईश्वर द्वैत के अन्तर्गत ही हैं। पुनः हम इस ईश्वर जगत को नाश करने को अशक्त हैं, इस कारण से क्यों न इसका सदुपयोग करें और अपनी साधना को इसी ईश्वरद्वैत के द्वारा परिपक्व करें।

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा।
उपाददीत शास्त्रीयमा तत्वस्यावबोधनात् ॥ ३५ ॥

जीवद्वैतं--जीव द्वैत। तु--निश्चय से ही। **शास्त्रीयं**--शास्त्री। **इति**--इस प्रकार। **अशास्त्रीयं**--और अशास्त्री। **द्विधा**--दो प्रकार के है। **उपाददीत**—धारण करना चाहिए। **शास्त्रीयं**--शास्त्री द्वैत। **आतत्वस्य**--स्वरुप का। **अवबोधनात्**--ज्ञान होने तक।

टीका : शास्त्री द्वैत केवल हिन्दु शास्त्र के ही ओर ध्यान नहीं दिलाया है अपितु समस्त मत और सम्प्रदाय के शास्त्रों का यहाँ उल्लेख है। इस शास्त्री द्वैत से ही प्रति मनुष्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवहार पर अंकुश है। यदि यह मनुष्य शास्त्री द्वैत का परिपालन नहीं करेगा तो पशुभाव को प्राप्त हो जाएगा। यहाँ श्री भगवान् ने सोलहवें अध्याय में कहा है :-

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

अशास्त्री द्वैत वह है जिसको मनमानी कहते हैं और जो शास्त्र के विपरीत हो।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परम् ब्रह्मविज्ञाय उत्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ ३६ ॥

ग्रंथमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञान तत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रंथम शेषतः ॥ ३७ ॥

मेधावी--बुद्धिमान । **शास्त्राणि**--शास्त्रों को । **अधीत्य**--अध्ययन करके । **पुनः पुनः च**--और बारंबार । **अभ्यस्य**--उनका अभ्यास करके । **परमं ब्रह्म**--परब्रह्म को (परोक्षता से) । **विज्ञाय**--जानकर । **उल्कावत**--जलने वाली लकड़ी, (जिसे घर तक पहुंचने के लिए उपयोग में लाया जाता है,) की तरह । **तानि**--उन शास्त्रों को । **अथो**--फिर । **उत्सृजेत्**--त्याग करे ।

तथा च

ज्ञानविज्ञानतत्परः--ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान के तत्पर । **मेधावी**--बुद्धिमान पुरुष । **ग्रन्थं**--ग्रंथों का । **अभ्यस्य**--अभ्यास करे (तत्पश्चात्) । **धान्यार्थी**--शाली चाहने वाला । **पलालमिव**--शाली के घास की तरह । **ग्रंथं**--ग्रंथों को । **अशेषतः**--पूरी तरह । **त्यजेत्**--त्याग करे ।

टीका : जैसा पहले कहा गया है शास्त्रों का उपयोग उसी समय तक हो सकता है जब तक दृढ़ परोक्ष ज्ञान प्राप्त न हो । इसी कारण से ग्रंथकार कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष को शास्त्रों को पढ़ना चाहिए और बार बार अभ्यास करना चाहिए । यहाँ दृष्टांत से स्पष्ट होता है कि जब मनुष्य घर में पहुँचता है तो जलने वाली लकड़ी को बाहर फैंक देता है ।

तथा च

ग्रंथकार पुनः दूसरा दृष्टांत देकर इसी भाव को स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान

और विज्ञान के तत्पर बुद्धिमान मनुष्य को ग्रंथों का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् जिस तरह किसान शाली को शाली के घास से अलग करके उस घास को दूर फेंकता है, उसी प्रकार जब बुद्धिमान पुरुष ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करके ग्रंथरुप घास को त्याग करे। कारण यह कि जो ग्रंथों का तात्पर्य है उसको भली प्रकार जानकर ग्रंथों का परित्याग करे और ज्ञान और विज्ञान के तत्पर रहे।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ३८ ॥

धीरो—धीर। **ब्राह्मणः**—ब्राह्मण जिज्ञासु। **तमेव**—उस परब्रह्म को। **विज्ञाय**—परोक्षता से जानकर। **प्रज्ञां**—निधिध्यासन। **कुर्वीत**—करे। **हि**—कारण यह। **बहून्**—अधिक। **शब्दान्**—शब्दों को अर्थात् शास्त्रों को। **न अनुध्यायात्**—न पुकारे। **तत्**—वह। **वाचो**—वाणी को। **विग्लापनम्**—सुकड़ाता है।

टीका : धीर ब्राह्मण अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पन्न ब्राह्मण जिज्ञासु शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् परब्रह्म को दृढ़ परोक्षता से जानकर अपरोक्ष ज्ञान के लिए ऐकाग्रय रुपी निधिध्यासन करे। फिर शास्त्रों का अवलोकन करना व्यर्थ है। यहाँ पर ब्राह्मण शब्द से उन ब्राह्मणों को जो उत्पत्ति, शिखा और सूत्र को धारण करते हैं नहीं समझना चाहिए। श्री मद्भावगत-गीता की अठारहवीं अध्याय में ब्राह्मण का लक्षण इस प्रव.र किया है :-

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

यहां पर भगवान का संकेत है जिसमें यह सब गुण स्वभाव सिद्ध हों।

चाहे वह किसी भी धर्म से सम्बन्ध रखता हो। गुणों और कर्मों से ही ब्राह्मण हो सकता है न तो ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ब्राह्मण हो सकता है। इस श्रुतिवाक्य में विज्ञाय पद से परोक्ष ज्ञान ही समीचीन प्रतीत होता है। प्रज्ञा पद से निधिध्यासन के ओर संकेत किया है। परोक्ष ज्ञान भी यदि दृढ़ पूर्वक हो तो शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म लोक की प्राप्ति करा सकता है। परन्तु यह दृढ़ता ऐसी होनी चाहिए जैसी हम को पुल के ऊपर से चलने से हमको कोई सन्देह नहीं होता। यदि हमको मन में सन्देह हो कि पुल बिल्ली की पीठ की तरह ऊपर-नीचे हो जाएगा तो हम उस पर चलना कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मंदमिति द्विधा ।
काम क्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥३९ ॥

अशास्त्रीयं—अशास्त्रीय (शास्त्र ने निषेध किया)। **अपि**—भी। **द्वैतं**—द्वैत। **तीव्रं**—बलवान। **मंद**—दुर्बल। **इति**—इस प्रकार से। **द्विधा**—दो प्रकार का है। **तीव्रं**—बलवान। **कामक्रोधादिकं**—काम क्रोध आदि। **तथा**—और इसी तरह। **मनोराज्यं**—संकल्प विकल्प आदि। **इतरत्**—दूसरा अर्थात मंद है।

टीका : अर्थ स्पष्ट है।

उभयं तत्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोध सिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥ ४० ॥

तत्वबोधात्—तत्वज्ञान से। **प्राक्**—पहले। **बोधसिद्धये**—ज्ञान के सिद्ध होने के लिए। **उभयं**—दोनों अर्थात तीव्र और मंद द्वैत। **निवार्यं**—छोड़ने योग्य हैं। **यतः**—क्योंकि। **शमः**—शम दम। **समाहितत्वं च**—

और समाहितता को। **साधनेषु**—ज्ञान साधनों में। **श्रुतम्**—सुना है।

टीका : दोनों तीव्र और मंद जीवद्वैत जो अशास्त्रीय हैं, ज्ञानप्राप्ति से पहले छोड़ने योग्य हैं। इस त्याग के बिना ज्ञान प्राप्ति असम्भव है। ज्ञान साधनों में शम, दमाधि और समाहितता सुनते आए हैं।

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।
कामादि क्लेशबंधेन युक्तस्य न हि मुक्तता ॥ ४१ ॥

जीवन्मुक्ति—जीवन्मुक्ति सुख। **प्रसिद्धये**—की सिद्धि के लिए। **बोधात्**—ज्ञान के। **उर्ध्वं च**—पश्चात् भी। **तत्**—वह अशास्त्रीय द्वैत। **हेयं**—त्याग करने योग्य है। **कामादि**—कामक्रोधादि। **क्लेशबंधेन**—क्लेश बंधन से। **युक्तस्य**—युक्त (सहित)। **मुक्तिता**—मुक्तभाव। **न हि**—निश्चय कर के नहीं है।

टीका : यदि साधक यह समझता है कि अशास्त्रीय द्वैत का त्याग ज्ञान से पहले ही आवश्यक था, ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् नहीं, तो ऐसी बात नहीं है। कारण कि जीवन्मुक्ति सुख भी ज्ञान के पश्चात् इस अशास्त्रीय द्वैत के त्याग के बिना नहीं हो सकता।

तत्वं बुद्धवापि कामादीन्निःशेषं न ज हासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलंघिनः ॥ ४२ ॥

तत्वं—ब्रह्म तत्व को। **बुद्धवापि**—जाना भी हो। **कामादीन्**—काम क्रोधादि को। **निःशेषं**—समस्त रूप से। **न जहासि**—छोड़ा नहीं हो। **चेत्**—यदि ऐसा कहोगे। **ते**—तुम। **कर्मशास्त्र**—कर्मशास्त्र के। **अतिलंघिनः**—उल्लंघन करने वाले को। **यथेष्टाचरणं**- शास्त्र के विरुद्ध इच्छा के अनुसार आचरण। **स्यात्**—होगा।

टीका : जो साधक तत्व ज्ञान के पश्चात भी कामक्रोधादिक को समस्त-
रूप से नहीं छोड़ते ऐसे साधकों को कर्मशास्त्र के उल्लंघन का दोष लग
सकता है। कारण यह कि इन ज्ञानवानों के प्रति अन्य जनों की दृष्टि लगी
रहती है। और उनके आचरण से अन्य साधारण जन शिक्षा लेते हैं। जैसे
श्री भगवान ने कहा है :

यद्यथाचरते श्रेष्टस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

यहां पर श्री भगवान ने ज्ञानवानों के प्रमाणों को ही अधिक विशेषता दिखाई है। हो सकता है ज्ञानवान को स्वाभाविक या शारीरिक दोष के कारण कुछ ऐसी चेष्टा करनी पड़े जो लोक के हित में न हो। इसी कारण से श्री भगवान ने कहा है 'स यत्प्रमाणं कुरुते' अर्थात जिस चेष्टा को वह ज्ञानवान शास्त्र के अनुसार प्रमाणित करते हों शास्त्र सर्वजगत के लिए एक तरह के नदी के दो तट हैं जिनके बीच में से जलप्रवाह होता है। यदि यह शास्त्ररूपी तट टूट-फूट जाते हैं तो जल रूपी जनता बिखर कर नष्ट हो जाती है।

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥४३॥

बुद्धाद्वैत—जाने हुए अद्वैत । **स्वतत्त्वस्य**—अपने अद्वैत स्वरूप वाला । **यदि**—यदि । **यथेष्टाचरणं**—अपनी इच्छानुसार आचरण करे। **अशुचि भक्षणे**—तो झूठा खाने वाले । **शुनां**—कुत्तों। **तत्त्वदृशां च**—और तत्त्वज्ञानियों में। **एव**—निश्चय रूप। **को**—कौन सा । **भेदः**—भेद होगा (अर्थात कोई भेद नहीं रहेगा)

टीका : अब अपनी इच्छा के अनुसार शास्त्र के विरुद्ध करने वाले

तत्त्वज्ञानियों का झूठा खाने वाले कुत्तों के साथ इसलिये सदृश्यता दिखाते हैं कि शास्त्र मर्यादा की महत्त्व को पाठक भली प्रकार समझ सकें।

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाधुना।
अशेषलोकनिन्दा चेत्य हो ते बोधवैभवम् ॥४४॥

बोधात्—ज्ञान से। **पुरा**—पहले। **मनोदोषमात्रात्**—मन के दोष मात्र से। **क्लिश्नासि**—दुःखित था। **अथअधुना**—अब इस समय। **अशेष**—सब। **लोकनिन्दा च**—लोगों की निन्दा के पात्र भी होंगे। **इति**—इस तरह। **अहो ते**—तुम्हारे। **बोधवैभवम्**—ज्ञान का वैभव आश्चर्य है।

टीका : ज्ञानवान के प्रति, जो यथेष्टाचरण करता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्व हे पूर्व पक्षी, तुम मन के दोषमात्र से दुःखित थे, अब यथेष्टाचरण करने के पश्चात् समस्त जनता की निन्दा के पात्र हो गए हो। कई ज्ञानवान विधि निषेध का उल्लंघन करके आचरण करते हैं जिस कारण से उनकी निन्दा होती है—क्या यह ही ज्ञान की विभूति है?

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद्भवान्।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥४५॥

भवान्—तुम। **तत्ववित्**—ब्रह्म ज्ञानी। **वड्वराहादि**—विष्टा सुवर आदि **तुल्यत्वं**—समान भाव की। **मा कांक्षीः**—मत इच्छा करो। **सर्व**—सब। **धीदोष**—बुद्धि के दोषों के। **संत्यागात्**—त्याग करने से। **लोकैः**—लोगों से। **देववत्**—देवताओं की तरह। **पूज्यस्व**—पूजनीय बनो।

टीका : बहुत से ज्ञानवान विधिनिषेध का उल्लंघन करते हैं। संभवतः वह समझते हैं कि यह विधिनिषेध द्वैत के अन्तर्गत हैं और वह अद्वैत पद

को प्राप्त हो गए हैं। परन्तु वह नहीं समझते कि जिस अद्वैत पद पर पहुंचे हैं वह भी द्वैत के अन्तर्गत ही है। इसीलिये आचार्य शिक्षा देते हैं कि सुवरों की तरह मत बनो अपितु काम क्रोधादिक बुद्धि के दोषों के परित्याग से हे ज्ञानवान, तुम देवताओं की तरह पूजनीय बनो।

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः।
अशेष दोष बीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥४६॥

एष—यह। **कामादिः**—काम क्रोधादि। **त्यज्यताम्**—छोड़ दे (परन्तु) **मनोराज्ये**—मनोराज्य से। **तु**—निश्चय ही। **का**—क्या। **क्षतिः**—हानि है। **अशेष**—सब। **दोष**—दोषों का। **बीजत्वात्**—बीज होने के कारण। **क्षतिः**—हानि। **भगवता**—श्री भगवान ने (गीता में) **ईरिता**—कही है।

टीका : पूर्वपक्षी कामक्रोधादिक को त्यागने का स्वीकार करके अब मनोराज्य की हानि को पूछते हैं। यह प्रसिद्ध वार्ता है कि प्रत्येक कर्म के पूर्व प्रथम मनोराज्य होता है। इस कारण से पूर्वपक्षी को आचार्य शिक्षा करते हैं कि श्री भगवान् ने गीता की दूसरी अध्याय में प्रत्येक दोष का मनोराज्य ही कारण बताया है—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः.........बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥"

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकांतवासिना।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥४७॥

धीदोषशून्येन—बुद्धि के दोष से रहित। **एकांतवासिना**—एकांत में रहने वाले। **बुद्धि तत्त्वेन**—ज्ञानावान को। **दीर्घं**—लम्बा। **प्रणवं**—प्रणव अर्थात् ओंकार। **उच्चार्य**—पुकार के। **मनोराज्यं**—मनोराज्य को। **विजीयते**—जीतना चाहिए।

टीका : सिद्ध और साधक दोनों के लिए मनोराज्य हानिकारक होता है। जब ज्ञानवान एकांत में बैठकर काम, क्रोध, लोभ इत्यादि बुद्धि के दोषों को परित्याग करके बैठा रहता है तो अवश्य मनोराज्य में फंस जाता है। इस दोष के निवारण के लिए श्रेष्ठ आचार्य लम्बे प्रणव के उच्चारण का उपाय बताते हैं। यहां लम्बा प्रणव उपलक्षित है अर्थात् अवश्य प्रणव ही नहीं उच्चारण होना चाहिए अपितु कोई भजन, कीर्तन आदि से भी मनोराज्य पर विजय पाया जा सकता है। मनोराज्य समस्त दोषों का मूल है जितने भी सिद्ध साधकों से हम मिले सबने मनोराज्य को एक भयानक विषय पाया है। जिस समय मनुष्य एकांत में बैठता है तो विचित्र मनोराज्य सामने उपस्थित होते हैं। इन मनोराज्यों को अवश्य ही दोनों सिद्ध साधकों को जीतना अनिवार्य है। प्रायः यह सिद्ध और साधक एकांत में ही बैठते हैं और इस एकांतवास को भिन्न-भिन्न शास्त्रों में उत्कृष्टता बताई है। श्री भगवान ने गीता के अध्याय १३ और १८ में एकांतवास के प्रति कहा है— 'विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि'। 'विविक्तसेवी लध्वाशी:............' भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने भी एक स्थान पर कहा है—

"एकान्ते सुखमासतां परतरे चेतः समाधीयताम्।"

अर्थात् एकांत में सुखसान बैठकर मन को परब्रह्म में समाहित करें। एकांतवास के लाभ को वही समझ सकते हैं जो इसका सेवन करते हैं। पाल बरन्टन ने अपनी पुस्तकों में लिखा है कि संसार के रहस्य एकांत में ही उजागर होते हैं। यदि एकांतवासी मनोराज्य न करे।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाण निर्वृ तिः ॥४८॥

दृश्यं—दृश्य जगत। **नास्ति इति**—नहीं है, इस प्रकार। **बोधेन**—ज्ञान से

मनसः—मन से। **दृश्य**—दृश्य जगत को। **मार्जनम्**—मिटा लेना। **संपन्नं**—संभव हो। **चेत्**—यदि। **तत्**—उससे। **उत्पन्ना**—उत्पन्न। **परा**—उत्कृष्ट। **निर्वाण**—मुक्ति रूप। **निर्वृतिः**—सुख होता है

टीका : श्री वसिष्ट जी ने मन को ही प्रधानता दी है। उनके विचार से यदि नेति-नेति करके इस दृश्य जगत को मिटाया जाए तो साधक उत्कृष्ट सुख का भोग करता है। जब साधक बाह्य जगत को निराकरण करके नेत्र बन्द करके अपने आन्तरिक जगत को भी शनैः-शनैः निराकरण करता है तो उसको उत्कृष्ट सुख की उपलब्धि होती है।

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥४६॥

अलं—पूर्ण रीति से। **शास्त्रं**—सब शास्त्रों को। **विचारितं**--विचार किया हो। **मिथः**—आपस में। **चिरं**—बहुत काल तक। **उद्ग्राहितं**—प्रश्न उत्तर रूप में अवलोकन किया हो। **संत्यक्त**—पूरी तरह से छोड़ कर। **वासनान्**—वासनाओं को। **उत्तमं**—उत्तम। **मौनात ऋते**—मौन के बिना। **पदं**—पद। **न अस्ति**—नहीं है।

टीका : यहां सब शास्त्रों का जो उल्लेख है वह अधिकारी भेद से समझना चाहिए। उत्तम अधिकारी को थोड़े से शास्त्र से ही तृप्ति आती है और प्रमाणगत सन्देह दूर होता है। शास्त्रों का अवलोकन करके 'स्थूनानिखन न्याय' के अनुसार और अधिकारियों के साथ प्रश्नोत्तर रूप से अपने निश्चय को पक्का बना कर और वासनाओं को त्याग कर चुपचाप बैठना सबसे उत्तम पद है। ऐसे विचारवान को निरर्थ भाषण नहीं करना चाहिए। काश्मीर देश में एक सन्यासी जिनका नाम श्रीमान हरिसिंह था, किसी बगीचे में एकांत सेवन करते थे। यदि कोई उनके पास आता था तो उसको डंडा उठा कर

भगाते थे। स्वयं बैठकर अपनी कंथा पर सूई से श्रुतिस्मृति की कढ़ाई करते थे। ताकि मनोराज्य न होने पाए। यदि कोई गिनेचुने वेदान्ती भक्तजन आते थे तो अपनी कंथा से श्रुति स्मृतियों का व्याख्यान करते थे और उन भक्तजनों को जल्प करने का समय नहीं देते थे।

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ।।५०।।

कदाचित्—कभी। **भोगदायिना**—भोग देने वाले। **कर्मणा**—कर्मों से। **धीः**—बुद्धि का। **विक्षिप्यते**—विक्षेप हो। **पुनः**—फिर। **अभ्यास**—अभ्यास की। **पाटवात**—अधिकता से। **सा**—वह (बुद्धि)। **तदैव**—उसी समय। **समाहिता**—समाहित। **स्यात्**—होती है।

टीका: इस पुस्तक के किसी अंक में हम बता चुके हैं कि हमारी प्रत्येक चेष्टा दैव या कर्म से अवश्य प्रभावित होती है। इसी कारण से पहले कहा गया है कि जीव स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी। यदि किसी समय इसे आधिदैविक आदि कारणों से परतंत्रता के कारण इस सिद्ध या साधक को विक्षेप होता है तो फिर उसी समय अभ्यास के प्राचुर्य से बुद्धि समाहित होती है। अभ्यास के प्राचुर्य से उसको अपनी बुद्धि समाहित करने में कोई विलम्ब नहीं होता।

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ।।५१।।

यस्य—जिस को। **विक्षेपो**—विक्षेप। **न अस्ति**—नहीं होता। **अस्य**—उसको। **ब्रह्मवित्त्वं**—ब्रह्म साक्षात्कारी। **न**—नहीं। **मन्यते**—मानते हैं।

ब्रह्मैव—ब्रह्म ही है। अयं—वह । इति—ऐसा । पारदर्शिन:—पारदर्शी ।
मुनय:—मुनीश्वर। प्राहु:—कहते हैं।

टीका : जीवन्मुक्ति के दो प्रकार कहे हैं एक विदेह मुक्त दूसरा जीवन्मुक्त। देह से मुक्त हुए के प्रति यह ऊपर का श्लोक सम्बन्धित है परन्तु जब तक देह है तब तक विक्षेप का होना आवश्यक है। प्रारब्ध कर्मों का फल देह है सो जीवन्मुक्त को भी सुख-दु:ख भोगना पड़ता है। वेदांत के शास्त्रों में इन को सुखदु:खाभासकहते हैं। एक समय की बात है कि एक जीवन्मुक्त साधु के पैर के ऊपर फोड़ा हो गया और इसके कारण उसे अत्यन्त जलन और व्यथा हो गई। शास्त्रों के अनुसार सन्यासियों को चिकित्सा कराना नहीं माना है। इस कारण से वह सन्यासी किसी वैद्य की चिकत्सा के अधीन नहीं हो गए। अपितु नदी के तट पर जा कर जलन और व्यथा को निवृत करने के लिए इस फोड़े पर शीतल पानी गिराते रहे। जब किसी भक्त ने देखा तो स्वामी जी को चिकित्सा कराने का अनुरोध किया। स्वामी जी ने कहा—'प्रिय सेवक, हमको शास्त्रों में चिकित्सा के अधीन जाना नहीं माना है, यदि यह शरीर तुम्हारी प्रतिमा है तो आप वैद्य और औषधि को ला कर इसका उपाय करा सकते हैं। तत्पश्चात् उस भक्त ने सीसे की टिकियां ला कर स्वामी जी के पैर के फोड़े पर बाँध ली। कुछ समय के बाद स्वामी जी ठीक हुए और पूर्णतया अपने स्वरूप में लीन हुए। यह कहानी कोई सुनी सुनाई नहीं है अपितु स्वयं मैंने देखा है। अत: इतिहास है।

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवल रूपत:।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥५२॥

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो। दर्शनादर्शने—ज्ञान और अज्ञान को। हित्वा—छोड़ कर। स्वयं—स्वयं। केवलरूपत:—अद्वितीय रूप से। य:—जो। तिष्ठति—

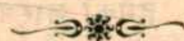
ठहरता है । स—वह । स्वयं—स्वयं । ब्रह्म—ब्रह्म ही है । न तु—न निश्चय करके । ब्रह्मवित्—ज्ञानवान है ।

टीका : ज्ञान को अज्ञान की तरह किसी श्रेणी में बंधक माना गया है। बेड़ी यदि सुवर्ण की हो या लोहे की हो, बेड़ी ही है। इस ज्ञान के प्रति भगवान ने अठारहवें अध्याय में कहा है।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशक मनामयम् ।
सुख संगेन बध्नाति ज्ञान संगेन चानघ ।।

यह एक ऐसी अवस्था है जो ज्ञानवान स्वयं अनुभव करता है परन्तु निरुपण नहीं कर सकता है। जैसे किसी ने मीठा खाया हो तो उस मीठे के तात्विक स्वाद को जो वह अनुभव करता है, बोल नहीं सकता और इतना कहता है कि यह मधुर था।

इति द्वैतविवेक प्रकरणं समाप्तम् ।



अथ चित्रदीप प्रकरणम्

यह प्रकरण अत्यन्त मनोरंजक है। इसका नाम चित्रदीप इस कारण से रखा गया है कि इस द्वैत सृष्टि को आचार्य ने चित्र के साथ उपमा की है। ब्रह्म रूप चित्रपट पर यह नाम रूपात्मक जगत चित्र के सदृश खेंचा गया है। प्रथम—अब आचार्य अज्ञान का लक्षण करते हैं :—

संसारः परमार्थोऽयं सल्लग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ।।५३।।

अयं—यह। **संसारः**—संसार। **परमार्थो**—वास्तविक है। **स्वात्म**—स्वात्म। **वस्तुनि**—वस्तु में। **संल्लग्नः**—लगा हुआ है। **इति**—यह। **भ्रांतिः**—भ्रम। **अविद्या**—अज्ञान। **स्यात्**—है। **एषा**—यह अज्ञान। **विद्यया**—ज्ञान से। **निवर्तते**—दूर होता है।

टीका : वेदान्त के दार्शिकों ने अज्ञान के निवृत्ति के लिए भिन्न-भिन्न उपाय बताए हैं और इनके नाम कुछ ऐसे हैं—एक जीववाद, दृष्टिसृष्टिवाद, विव्रतवाद, आभासवाद, अध्यारोपापवाद, इत्यादि हैं। आचार्य ने यहां पर विव्रतवाद को दृष्टिगोचर रख कर अज्ञान का लक्षण बताया है जैसे रस्सी पर सांप की भ्रान्ति होती है इसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य में संसार की भ्रान्ति मानी है इसीलिए साधारण जीव अज्ञान से मोहित होकर मानता है कि यह द्वैत प्रपंच आत्मवस्तु ही है। बहुत से दार्शिकों ने इस द्वैत प्रपंच को परब्रह्म रूप ही माना है। और वेदांत में भी इस जगत को परमात्मा रूप ही माना है। परन्तु वेदान्त के दार्शिकों ने इस की व्यवस्था समीचीन रूप से बताई है अर्थात् यह द्वैत प्रपंच अस्तिता, भातिता, प्रियता, नाम और रूप से बना हुआ है। नाम और रूप को व्यभिचारी होने के कारण से परमात्मा के रूप पर कल्पित माना है अन्य अस्ति भातिता प्रियता को परमात्मा रूप माना है। यह नाम रूपात्मक जगत को परमात्मा का स्वरूप मानना हमें समीचीन प्रतीत नहीं होता और इस भ्रान्ति को अधिष्ठान रूप ब्रह्म के साक्षात्कार से ही निवृत्ति हो सकती है।

आत्मा भासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥५४॥

आत्माभासस्य—चिदाभास रूपी। **जीवस्य**—जीव को। **संसारो**—संसार है। **न**—न तो। **आत्मवस्तुनः**—आत्म वस्तु को। **इति**—यह। **बोधो**—

ज्ञान । भवेत्—है । असौ—यह । विद्या—ज्ञान । विचारणात्—विचार से । लभ्यते—प्राप्त होता है ।

टीका : यहाँ पर आचार्य ने आभास वाद के ओर संकेत किया है। आभासवाद में तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। अर्थात अधिष्ठान, उपाधि और आभास। आभासवाद के नियम के अनुसार इस जगत में अन्तः-करण उपाधि है और अधिष्ठान रूप ब्रह्म है और जीव इस चैतन्य ब्रह्म का आभास है। इसी प्रकार से आभासवाद के अनुसार यह जीव जिसको भ्रान्ति होती है चिदाभास है। न तो चैतन्य ब्रह्म इसी आभास को सुख-दुःख रूपी विकार माने हैं न तो निर्विकार ब्रह्म को। यह वादों का वेदान्त के दार्शिकों ने जिज्ञासु के रुचि के अनुसार बताए हैं। जैसे किसी स्थान पर पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हों पर स्थान रूपी लक्ष्य एक ही है। यही भाव शिव महिमः स्तोत्र में प्रकट किया है :—

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनाना पथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' ॥

इसका अर्थ—सीधे, टेढ़े और नाना प्रकार के मार्ग, राह चलने वाले सभी जिज्ञासुओं के लिए उनकी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार है। (हे शंकर) तुम ही एक प्राप्त करने योग्य हो। जैसे सभी जलों का एक ही समुद्र अन्तिम प्राप्य स्थान है।

इसी प्रकार वेदान्त के इन वादों का तात्पर्य है कि वास्तव में किसी वाद में न्यूनता या अधिकता नहीं है जिस एक प्रक्रिया से साधक को ज्ञान प्राप्त हो वही उसके लिए श्रेष्ठ है। पूज्यपाद श्री स्वामी विद्यारण्य मुनि के इस पंचदशी ग्रंथ के १५ प्रकरण हैं। प्रत्येक प्रकरण स्वयं तुष्टिदायक है और एक प्रकरण का दूसरे प्रकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक विशेष विलक्षणता इस

ग्रंथ में है। इसी कारण से मुनिवर ने कहा है कि जिस जिस प्रकरण से जिस जिस जिज्ञासु को बोध हो, वही उसके लिए साध्वी है।

सदा विचारयेत्तस्माद् जगज्जीवपरात्मनः।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥५५॥

तस्मात्—इसलिये। **सदा**—नित्य। **विचारयेत्** -विचार करना चाहिये। **जगत्**—जगत। **जीव**--जीव। **परात्मनः**—परमात्मा को। **जीवभाव**—जीवभाव। **जगद्भाव**—जगद्भाव को। **बाधे**—छोड़ करके। **स्वात्माएव**—केवल स्वात्मा ही। **शिष्यते**—पीछे शेष रहता है।

टीका : मुमुक्षु को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विचारों में संलग्न रहना निषेध किया हुआ है। इन विचारों के द्वारा मुमुक्षु को स्वात्मपक्ष में विचार करने का अवसर नहीं मिलता। मुमुक्षु को केवल जीव-जगत और परमात्मा के प्रति विचार करते रहना चाहिए। जीव और जगत को असत्य मान कर छोड़ना चाहिये। तत्पश्चात् परमात्मा, जो कि शेष रहता है, के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। सन्तों का कहना है, यदि किसी वस्त्र में धब्बा पड़ जाए तो उस धब्बे की खोज पर विचार करना निष्फल है अपितु थोड़ी सी साबुन लेकर उस धब्बे की निवृति हो सकती है। यही उपमा जगत जीव और परमात्मा के प्रति समीचीन है। जीव और जगत के प्रति विचार करना व्यर्थ होगा। जब हमने निश्चय किया है जीव और जगत के नाम रूप असत्य हैं, इस कारण से शेष जो परमात्मा परब्रह्म है, उसके प्रति ही विचार करना लाभदायक होगा। वैसे भी जीव और जगत के प्रति विचार करना अत्यन्त जटिल है। इस कारण से इन नाम रूपात्मक जीव जगत को छोड़कर परब्रह्म परमात्मा, जो एकरस और शिवरूप है, के प्रति मन लगाना चाहिए।

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥५६॥

नाप्रतीतिः—न जगत की अप्रतीति। **तयोः**—उस जगत का। **बाधः**—बाध है। **किंतु**—अपितु। **मिथ्यात्व**—झूठे भाव का। **निश्चयः**—निश्चय। **नो चेत्**—नहीं तो। **सुषुप्ति**—सुषुप्ति। **मूर्च्छादौ**—मूर्च्छा आदि में। **अयत्नतो**—यत्न के बिना। **जनः**—लोग। **मुच्येत**— मुक्त हो जायेंगे।

टीका : वेदान्त के विद्वानों ने बाध शब्द का अप्रतीति का अर्थ नहीं किया है। कारण यह कि प्रतीतिमान जगत को हम हटा नहीं सकते हैं। परन्तु इस के झूठेपन का निश्चय मुमुक्षु को होना चाहिए। जैसे हम सिनेमा में चित्रपट को देखते हैं और उसको सत्य नहीं मानते हैं और उसके झूठे होने का हमारे मन में कोई सन्देह नहीं है। यदि बाध शब्द का अप्रतीति का अर्थ किया जाए तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यत्न के बिना ही सुषुप्ति मूर्च्छा में मनुष्य मुक्त हो सकता है। सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में जगत जीव की नितान्त अप्रतीति है। इस कारण से बाध शब्द से असत्य निश्चय ही समीचीन होगा।

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥५७॥

परमात्मा—परब्रह्म। **अवशेषो पि**—यदि शेष रहता है। **तत्**—उसका। **सत्यत्व**— सत्यत्व। **विनिश्चयः**—निश्चय ही पर्याप्त है। **न**—नहीं। **जगत्**—जगत का। **विस्मृतिः**—भूल जाना। **नो चेत्**—नहीं तो। **जीवन्मुक्तिः**—जीवन्मुक्ति। **न**—नहीं। **संभवेत्**—सम्भव होगी।

टीका : जब विचार से इस मुमुक्षु ने यह निश्चय किया हो कि परमात्मा

हो अधिष्ठान रूप से सत्य है और जगत जो इस अधिष्ठान पर अध्यस्त है, (असत्य है) तो उस मुमुक्षु को इस जगत की प्रतीति कोई हानि नहीं कर सकता जैसे सर्वशास्त्रमान्य जीवन्मुक्तों की दृष्टि में होता है।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥५८॥

ब्रह्म—चैतन्य ब्रह्म। **अस्ति**—है। **इति**—ऐसा। **चेत्**—यदि। **वेद**—जाना हो। **परोक्ष ज्ञानं एव**—परोक्ष ज्ञान ही है। **तत्**—वह। **अहं**—मैं। **ब्रह्म**—ब्रह्म हूं। **इति**—ऐसा। **चेत्**—यदि। **वेद**—जाना हो। **साक्षात्कारः**—साक्षात्कार। **स**—उसे। **उच्यते**—कहते हैं।

टीका : यदि दृढ़ विश्वास हो कि चैतन्य ब्रह्म है तो उसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। दृढ़ परोक्ष ज्ञान का फल ब्रह्म लोक प्राप्ति कहा है। यदि यह जाना हो कि मैं ही ब्रह्म रूप हूं तो उसको साक्षात्कार कहते हैं जिसका लाभ निर्णय की अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु यहाँ पर इस पद में परोक्ष और अपरोक्ष शब्दों के साथ दृढ़ शब्द उपयोगी होगा। दृढ़ शब्द क्या है इसकी विवक्षा हम पीछे कहीं कर आए हैं। तात्पर्य यह है कि दृढ़ता पर ही फल की व्यवस्था है। वैसे तो अदृढ़ अथवा परोक्ष ज्ञान वेदान्त के सर्वसाधारण पाठकों को होता ही है, जिसका कोई विशेष फल नहीं होता।

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वैस्तिरोहितः।
तथा जीवेनकूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥५९॥

जलव्योम्ना—जल में प्रतिबिंबित आकाश ने। **घटाकाशो**—घट के आकाश को। **सर्वैस्तिरोहिता**—सर्व प्रकार से छुपाया है। **यथा**—जिस तरह। **तथा**—

उसी तरह। जीवेन—जीव ने। कूटस्थः—कूटस्थ को छुपाया है। सो—उसी को। अन्योन्याध्यास—एक को दूसरे पर कल्पना करना अन्योन्याध्यास है। उच्यते—विद्वान कहते हैं।

टीका : वेदान्त के आचार्यों ने अन्योन्याध्यास को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—इसको अंग्रेजी भाषा में 'सुपर इम्पोजीशन' कहते हैं—अर्थात एक वस्तु पर दूसरे वस्तु की भ्रान्ति से कल्पना करना—जैसा किसी रस्सी पर रेखा का, जलधारा का या सर्प की भ्रान्ति से कल्पना की जाती है—यह ही अन्योन्याध्यास होता है। इस स्थल में कुशल आचार्य घटाकाश की उपमा देकर समझाते हैं—जैसे जल भरे घट में महा आकाश का प्रतिबिंब लगता है और घट का आकाश नहीं दिखता है, केवल घटाकाश में महा आकाश के प्रतिबिंब को घटाकाश कल्पना करता है, वैसे ही अन्तःकरण में चित्त ब्रह्म के प्रतिबिंब को यह मनुष्य जीव समझता है—वास्तव में यह चित्त ब्रह्म का प्रतिबिंब ही है और जल रूपी अन्तःकरण में प्रतिबिंबित होकर विकारी होता है जब कि अधिष्ठान महा आकाश निर्विकारी है—एक रस है—निरलेप है।

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम्।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥६०॥

इदम्—यह। जगत्—जगत। स्पष्टं—स्पष्ट, साफ। भाति—दीखता है। तन— (परन्तु) उस जगत का। निरूपणम्—विवरण करना। अशक्यं—असम्भव है। तस्मात्—इसलिये। मायामयं—मायामय ही। जगत—जगत को। अपक्षपाततः—पक्षपात के रहित। ईक्षस्व—देखो।

टीका : यह विचित्र दृष्यमान जगत यदि स्पष्ट मालूम होता है—तथापि

इसका निरूपण करना असम्भव है--यह जगत कब उत्पन्न हुआ, कैसे उत्पन्न हुआ, और क्यों उत्पन्न किया गया, इसका निर्विवाद और समीचीन उत्तर किसी ने नहीं दिया।

कारण कार्यरूप की व्यवस्था से यह जगत सम्पूर्ण और स्पष्ट प्रतीत होता है—पर जब कि यह कारण कार्य व्यवस्था भंग हो जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि भवत: मनुष्य बुद्धि के बाहर यह समझना है कि यह क्यों हुआ—इस विषय पर प्रतिदिन कितने ही दृष्टांत मिलते हैं—कभी कभी इसको दैव और कभी प्रारब्ध के नामों से पुकारा जाता है—वस्तुत: इस जगत का सम्पूर्ण व्यवहार बुद्धि में नहीं आता है। इसी कारण से कुशल ग्रन्थकार कहते हैं, कि इस जगत को मायामय (जैसे बाजीगर की बाजी समझ में नहीं आती है) पक्षपात के बिना समझो--माया शब्द के बहुत अर्थ हैं--माया अर्थात् जो नहीं है—यह भी एक अर्थ है।

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पंडितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित ॥६१॥

निखिलैर—सब । **पंडितै**—पंडितों ने। **अपि**—भी। **निरूपयितुम**—निरूपण करने को। **आरब्धे**—आरम्भ क्या। **तेषां**—उनको। **कक्षासु**—अवस्थाओं में। **कासुचित**—कई सूक्ष्म अवस्थाओं में। **अक्षान**—अज्ञान। **पुरत:**—सामने। **भाति**—भासता है।

टीका : अनेक विद्वानों, महात्माओं ने इस जगत के प्रति खोज क्या किसी ने इसको नहीं समझा---केवल इतना कहते हैं कि यह जगत अनन्त है, अनाध्य है और सांत है—अर्थात् ज्ञान होने के पश्चात् नहीं रहता—नहीं रहने का यह विद्वान लक्षण करते हैं कि यह जगत मायामय है और केवल प्रतीति मात्र है—जिन महापुरुषों ने इसको समझने का यत्न किया वह पुन: पुन: यह ही कहते हैं कि इसको समझा नहीं जा सकता।

माया भासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥६२॥

माया––माया । **भासेन**––ग्राभास (प्रतिबिंब से) । **जीवेशौ**––जीव ग्रौर ईश्वर को । **करोति**––करती है । **इति**––ऐसा । **श्रुतौ**––वेद में । **श्रुतम**––सुना है । **तौ**––वह जीव ग्रौर ईश्वर । **मेघाकाश-जलाकाशौ**––मेघ के ग्राकाश ग्रौर जल के ग्राकाश । **इव**––के समान । **सुव्यवस्थितौ**––बिन-बिन ठीके हुए हैं ।

टीका : श्रुती ने जीव ग्रौर ईश्वर को माया कार्य बताया है ग्रौर दोनों को बिन बिन बताया है । श्रेष्ठ उपाधि जैसे मेघ में महा ग्राकाश का प्रतिबिंब जैसा ब्रह्म चैतन्य के प्रतिबिंब को ईश्वर ग्रौर ग्रश्रेष्ठ उपाधि जैसे घट के जल में महा ग्राकाश का प्रतिबिंब जैसा ब्रह्म चैतन्य के ग्राभास को जीव बताया है । इस ग्राभासवाद से वेदान्त के दर्शकों ने ब्रह्म चैतन्य के समझने में एक ग्रदभुत दृष्टांत दिया है–ब्रह्म निर्विकार, ग्रसंग, नित्य, पूर्ण तथा स्वप्रकाश है परन्तु जीव विकारी, संगसहित, ग्रनित्य, पिरिच्छिन्न तथा परप्रकाशी है । जीव का ग्राधार ब्रह्म है जिसका प्रतिबिंब सूक्ष्म शरीर में पड़ता है । तात्पर्य है कि जीव ब्रह्म, सूक्ष्म शरीर तथा प्रतिबिंब का संगठन है । इस दृष्टांत से पूर्णतया बुद्धि में ग्राता है कि जीव क्या है—याद रहे कि सूक्ष्म शरीर जब स्थूल शरीर में रहता है तब ही सुख-दुःख का भोग होता है । इसी कारण से सूक्ष्म शरीर को भागायतन माना है—ईश्वर, जीव तथा जगत को श्री भगवान् ने पन्द्रहवें ग्रध्याय में बताया है :—

द्वाविभौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एवच ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वनयः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यर्थायतुं पुकान्।

न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥६३॥

अर्थ : **यत**—जो कुछ। **विश्व**—जगत। **अयं**—यह ईश्वर। **सृजते**—उत्पन्न करता है। **तत**—उस उत्पन्न किये को। **अन्यर्थायतुं**—उलटा करने में। **कोपि**—कोई भी। **पुमान**—पुरुष्य। **न शक्तः**—बल नहीं रखता। **तेन**—इसलिये। **अयं**—यह ईश्वर। **सर्वेश्वर**—सब का ईश्वर। **ईतीरितः**—ऐसा कहा जाता है।

टीका : प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने इस जगत के निर्माण को अटल बताया है। अर्थात् किसी जीव विशेष द्वारा इसमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। वैसे भी हम व्यावहारिक दशा में देखते हैं कि दैव का किया हुआ कुछ बदला नहीं जा सकता। हमारी हिन्दु सभ्यता में प्रारब्ध, दैव अथवा और किसी शब्द से ईश्वरेच्छा को कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक जीव कितने ही विषयों में स्वतंत्र है और फलस्वरूप अपनी इच्छानुसार फल-प्राप्ति करते हैं अर्थात प्रारब्ध और पुरुषार्थ का वाद उपस्थित होता है। इसमें भी शास्त्रों के प्रमाण दोनों पक्षों में मिलते हैं। जैसे—भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में कहा है—'अधिष्ठानं तथा कर्ता........' में उल्लेख किया है।

मेरे विचार से दैव की इच्छा भी अटल है परन्तु जीव की स्वतंत्रता भी प्रसिद्ध है। दैवात् किसी को धन की प्राप्ति होती है परन्तु उस धन का व्यय करने में भी वह व्यक्ति स्वतंत्र है जैसे नाव में बैठकर गंगा जी में पूर्व की ओर जाता है और उस नाव को पश्चिम की ओर नहीं फिराया जा सकता है, परन्तु नाव में बैठ कर जीव स्वतंत्रता से व्यवहार कर सकता है अर्थात

पढ़ सकता है, लिख सकता है, सो सकता है, इत्यादि।

विचार करने से यह सिद्ध होता है कि यह प्रारब्ध और पुरुषार्थ का वाद अत्यन्त ही जटिल है। इस जटिलता के कारण प्रारब्धवाद को असत् माना है।

दैनिक व्यवहार में प्रत्येक जीव दैव को मान कर भी बुद्धि से व्यवहार करता है। इसी कारण भगवान् ने कहा है—'कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन.........'। फलप्राप्ति के लिए हम सदा वर्तमान कर्म पर ही निर्भर नहीं रह सकते। कभी कभी वर्तमान में प्रारम्भ किया हुआ कर्म या तो हो नहीं पाता या हो जाने पर भी उसका फल कट जाता है, नहीं मिल पाता।

मेरे विचार में जीव की स्वतंत्रता और दैव की अटलता एक ही मुद्रा के दो पृष्ठ हैं। प्रस्तुत विचार पहले भी हमने कहीं व्यक्त किया है।

तंतोः संकोच विस्तार चलनादौ पटस्तथा।

अवश्यमेव भवति न स्वातंत्र्यं पटे मनाक् ॥६४॥

अर्थ : तंतो—रुई के छोटे तन्तु। **संकोच**—सिकुड़ने से। **विस्तार**—फैलाने से। **चलनादौ**—चलने आदि से। **यथा**—जैसे। **पट**—कपड़ा। **अवश्यमेव**—अवश्य ही। **भवति**—होता है। **पटे**—कपड़े को। **स्वातंत्र्यं**—आजादी। **न मनाक्**—थोड़ी भी नहीं है।

टिप्पणी : वेदान्त के दर्शनिकों ने ईश्वर समष्टि रूप माना है। जहां-जहां व्यष्टि में ईश्वर का परिवर्तन होता है, वहां तन्तुओं के समान विस्तार और चलन से पट का भी विस्तार और चलन होता है। तन्तुओं को जो कुछ विकार होता है वह अवश्य ही पट में होगा। पट को स्वतंत्रता नहीं है। यहां पटस्थानी ईश्वर है। समिष्टमय होने के कारण ईश्वर में

अपरिमित शक्ति आ जाती है। व्यष्टि रूप एक पोस्टकार्ड एक भाग से दूसरे भाग तक नहीं पहुँच सकता। यही पोस्टकार्ड समष्टि रूप होकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जा सकता है।

तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा।
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशय: ॥६५॥

अर्थ : **तथा**—पूर्व श्लोकवत्। **अयं**—अन्तर्यामी ईश्वर। **यत्र**—जिस पदार्थ में। **या**—जिस। **वासणया**—वासना से। **यथा**—जिस प्रकार से। **विक्रयेत**—विकार को प्राप्त होता है। **तथा**—वैसा ही। **अवश्यं**—अवश्य। **भवत्येव**—होता ही है। **न संशयः**—इस में संदेह नहीं है।

टिप्पणी : दृष्टान्त को देकर अब आचार्य द्राष्टान्तिक से यह सिद्ध करते हैं कि जिस-जिस व्यक्ति रूप पदार्थ में जो-जो परिवर्तन और जिस-जिस समय पर जिस वासना से होता है उस-उस परिवर्तन में अन्तर्यामी ईश्वर परिणत होता है।

जानामि धर्मं न च में प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च में निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥६६॥

अर्थ : **धर्मं**—धर्म को। **जानामि**—जानता हूं। **न च मे प्रवृत्ति**—(परन्तु) मुझे धर्म में प्रवृत्ति नहीं है। **अधर्मं**—अधर्म को। **जानामि**—जानता हुं। **न च में निवृत्ति**—(परन्तु) मुझे अधर्म से निवृत्ति नहीं है। **हृदि**—हृदय में। **स्थितेन**—बैठे हुए। **केनापि**—किसी। **देवेन**—देवता ने। **यथा**—जैसी।

नियुक्तो—प्रेरणा की हो । अस्मि—मैं । तथा—वैसा । करोमि—करता हूं ।

टिप्पणी : सुना है यह वाक्य महाराजा दुर्योधन ने कहा है। हम सब को यह अनुभव सिद्ध है कि जिस चेष्टा को हम नहीं करना चाहते, कभी-कभी हम कर बैठते हैं। अपनी प्रकृति के वश चोर चोरी करता है, परन्तु जानता है, मैं यह अच्छा काम नहीं करता हूं। भगवान ने भी श्री मद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में लिखा है :—

सदृश्यं च्येष्टते स्वस्या प्रकृति र्ज्ञानवानपि ।

इससे सिद्ध होता है कि अन्तर्नियमन करने वाला ईश्वर हमारी प्रकृति के अनुरूप चेष्टा कराता है। इस पक्ष में बहुत से शास्त्र वाक्य मिलते हैं।

ईश सूत्र विराड् वेधो विष्णु रुद्रेन्द्रवह्नयः ।
विघ्न भैरव मैराल मरिका यक्ष राक्षसाः ॥६७॥

अर्थ : ईश—ईश्वर (समष्टि कारण शरीर अभिमानी)। सूत्र—सूत्र आत्मा (समष्टि सूक्ष्म शरीर अभिमानी)। विराट—विराट आत्मा (समष्टि स्थूल शरीर अभिमानी)। वेधो—ब्रह्मा जी। विष्णु—नारायण (पालन करने वाला)। रुद्र—शंकर। एन्द्र—इन्द्र। वह्नया—अग्नि देव। विघ्न भैरव—अड़चन डालने वाला भैरव। मैराल भैरव—एक भैरव का नाम। मरिकाय—किसी देवता विशेष का नाम। यक्ष—यक्ष देवता। राक्षसाः—रक्षसों का समूह।

विप्र क्षत्रिय विट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥६८॥

अर्थ : विप्र—ब्राह्मण। क्षत्रिय—क्षत्रिय। विट—वैश्य। शूद्रा—शूद्र। गवा—गाय। अश्व—घोड़ा। मृग—मृग। पक्षिणः—पक्षी। अश्वत्थ—पीपल। वट—बरगद। चूताद्या—ग्राम इत्यादि। यव—जौ। ब्रीहि—गेहूं। तृणादयः—घास ग्रादि।

जल पाषाण मृत्काष्ठवास्या कुद्दालकाहयः।
ईश्वराः सर्वं एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥६९॥

अर्थ : जल—पानी। पाषाण—पत्थर। मृत—मिट्टी। काष्ट—लकड़ी। वास्या—छेनी (छिनी)। कुद्दालकादयः—कुदार ग्रादि। इते—यह। सर्वएवैते—सभी। ईश्वरः—ईश्वर। पूजिताः—पूजा किया हुग्रा। फल-दायिन—फल देने वाले बनते हैं।

टिप्पणी : ऊपर निरुपण किए समस्त वस्तु जात जड़-चेतन रूप को उल्लेख करके सारे सृष्टि क्रम को ईश्वर रूप बताया है। इससे सिद्ध होता है कि सब पदार्थ को पूजा का पात्र बना कर पूजने से फलदायी बनते हैं। समस्त जीव जाति ग्रपने-ग्रपने ग्रधिकार के ग्रनुसार इन पदार्थों का पूजन करके फल पाते हैं। यह तो सर्व सिद्ध है कि निर्गुण से लेकर जल पाषाण की पूजा की जाती है।

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥७०॥

अर्थ : यथा-यथा—जिस-जिस प्रकार से। तम—उस ईश्वर को। उपासते—उपासना करते हैं। तथा-तथा—उसी-उसी प्रकार के। फलम्—फल को। यियु—प्राप्त करते हैं। तु—निश्चय करके। पूज्य—पूज्य देव

(और)। पूजा—पूजा के। अनुसारतः—अनुसार होने के कारण। फलोत्कर्ष—फल की उत्तमता। अपकर्षौ—फल की न्युनता होती है।

टिप्पणी : ग्रन्थकार ने उन पाठकों के संदेह को निवारण किया जो फल की उत्तमता और न्युनता पर शंका करते हैं। फल का निर्भर पूज्य देवता और पूजा के ऊपर होता है। भगवान ने भी कहा है—(देवानदेव यजोयान्ते मद भक्त यान्ति मामपि) जैसे सामान्य पुरुष की सेवा-टहल से सामान्य फल मिलता है और राजा आदि की सेवा-टहल से विशेष फल मिलता है। यही न्याय फल की उत्तमता और न्युनता पर लागू होता है।

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं बिना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥७१॥

अर्थ : मुक्तिस्तु—मुक्ति निश्चय से ही। ब्रह्मतत्त्वस्य—ब्रह्मतत्त्व के। ज्ञानादेय—ज्ञान से ही केवल प्राप्त होता है। न चान्यथा—किसी और प्रकार से नहीं। यथा—जैसे। स्वप्रबोधं—अपने जागने। बिना—के बिना। स्व-स्वप्नो—अपना स्वप्न। नैव—नहीं ही। हीयते—नाश हो जाता है।

टिप्पणी : मुक्ति केवल ज्ञान से ही प्राप्त होती है और जितने उपासना कर्म आदि हैं वे ज्ञान के वहिरंग साधन बताये गये हैं आचार्य अब उपमा देकर समझाते हैं—अपना स्वप्न अपने जागने बिना छूट नहीं जाता हैं, जैसे—रस्सी पर सांप का भ्रम होता है, वह रस्सी को देखे बिना दूर नहीं होता है। इसी प्रकार से जब तक साधक को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का दृढ़ अनुभव नहीं होता, तब तक यह माया रूपी जगत के सुख-दुःख नष्ट नहीं होते हैं। साधक को यह निश्चय अनुभव से धीरे-धीरे होता है। यह निश्चय भी कहीं अधिक मात्रा में होता है, कहीं न्युन मात्रा में होता है। जो साधक मुक्ति काम होता है

उसको अन्य प्रकार के लाभ गौड़ प्रतीत होते हैं। केवल मुक्ति मात्र उसे मुख्य प्रतीत होती है भगवान ने भी गीता में कहा है :—

यत्रो परमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया।
यत्र चैंवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

अद्वितीयँ ब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥७२॥

अर्थ : अयं—यह। चेतना चेतनात्मकम्—जड़-चेतन जगत। ईशजीव-दिरूपेण—ईश्वर और जीव आदि स्वरूप वाला। अखिलं—सारा। जगत—संसार। अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वे—अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप में। स्वप्नो—स्वप्न है।

टिप्पणी : यह जीव ईश्वर समस्त जड़-चेतन ब्रह्म स्वरूप में स्वप्न है। जहां पर स्वप्न के कारणों का निरूपण किया है वहां अधिष्ठान प्रधान माना है। कोई स्वप्न या भ्रम अधिष्ठान के बिना नहीं हो सकता है। इस संसार रूपी स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। इस संसार को जो जिस सीमा तक स्वप्न अनुभव करता वह उस सीमा तक ही सुखी-दुखी होता है। वेदान्त के दार्शनिकों ने स्वप्न और जाग्रति की तुलना करते हुए स्वप्न का कोई देश काल स्वीकार किया है, परन्तु जागृत का कोई देश-काल नहीं है इससे इस जागृत की स्वप्न रूपवत्ता निर्विवाद सिद्ध होती है।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥७३॥

अर्थ : ईक्षणादि—एकोहम बहुष्यामि ईश्वर का ईक्षण है। इसे लेकर। प्रवेशान्ता—स्वयं प्रवेश के अन्त तक। सृष्टि—सृष्टि। ईशेण—ईश्वर ने।

कल्पिता—कल्पना की है। **जाग्रदादि**—जाग्रत से लेकर। **विमोक्षान्तः**—मोक्ष के अन्त तक। **संसारो**—संसार। **जीव कल्पितः**—जीव की कल्पना है।

टिप्पणी : संसार की समष्टि रूप व्यष्टि रूप कल्पना किसकी है, इस विभाग में समस्त संसार ईश्वर की कल्पना है और जागृत से लेकर मोक्ष तक जीव की कल्पना है। इस जगत को काल्पनिक मानकर जागृत से लेकर मोक्ष तक जीव की कल्पना सिद्ध हुई है। एक जीव-वाद के अनुसार ईश्वर भी जीव की कल्पना है। अब यह अधिकारी भेद से समझा जा सकता है। एक जीव-वाद उत्तम अधिकारी का विषय है।

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसंगं तन्न जानते।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥७४॥

अर्थ ; अद्वितीयं—अद्वितीय। **असंगं**—असंग। **ब्रह्मतत्त्वम्**—ब्रह्म स्वरूप को। **तत्**—वह विवादी। **न जानते**—नहीं जानते। (तस्मात)—इसलिए। **मायिकयोर**—मायावी या माया कार्य। **जीवेशयों**—जीव और ईश्वर के बारे में। **वृथैव**—वृथा-निष्फल। **कलहं**—कलह-लड़ाई आदि। **ययु**—करते हैं।

टिप्पणी : साधारणतया देखा गया है कि उपासना से रहित कौतुक के कारण जीव और ईश्वर के निष्फल विचार को झगड़े या विवाद तक ले जाते हैं। वास्तव में उन विवादियों ने ब्रह्मतत्त्व को न जान कर ईश्वर और जीव के प्रति भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए हैं। यहां यह उपमा निष्फल नहीं होगी। यदि किसी वस्त्र में काला दाग लग जाय तो यह विचार करना कि यह दाग कहां से आया, क्यों आया, कैसे आया, किस जाति का है—यह विवाद निष्फल है। श्रेष्ठ कर्म यही होता है कि थोड़ा सा साबुन लेकर दाग को हटाया जाय।

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं बुध्यतां च तत् ॥७५॥

अर्थ : मुमुक्षुभिर—मुमुक्षु को। **मतिर**—बुद्धि । **तस्मात्**—इसलिए। **जीवेश**—जीव ईश्वर के। **वादयोः**—वाद-विवाद में। **नैव**—नहीं। **कार्या**—करनी या लगानी चाहिए। **किन्तु**—अपितु। **ब्रह्मतत्त्वं**—ब्रह्म स्वरूप को । **विचार्य**—विचार करना चाहिए । **बुध्यतां**—जानना भी । **चतत्**—उसको चाहिए ।।

टिप्पणी : जीव, जगत और ईश्वर के प्रश्न इतने जटिल हैं कि आज तक किसी ने इनका निर्विवाद समाधान नहीं किया और न आगे कोई बुद्धि से कर सकेगा। आचार्य इसलिए मुमुक्षु की आयु तथा बुद्धि अपर्याप्त होने के कारण शिक्षा करते हैं कि मुमुक्षु को इन बातों मैं नहीं उलझना चाहिए; अपितु स्व-स्वरूप सच्चिदानन्द रूप का विचार करके उसका अनुभव भी करना चाहिए। जीव, जगत और ईश्वर के प्रति जितने भी प्रश्न हों उनको पूर्व पक्ष के कारण से यदि आवश्यक हो तो किया जाय। कृतोपासक मुमुक्षु को इन जटिल बातों की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः ऐ वेदान्त श्रेष्ठ अधिकारी का विषय है।

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥७६॥

अर्थ : क्षुत्पिपासादयो—क्षुधा पिपासा आदि। **मयी**—मुझमें। **यथापूर्वं**—पहले जैसा। **दृष्टा**—दिखाई देता है। **यतिचेत**—ऐसा यदि (हे प्रश्नकर्त्ता) कहोगे। **अहंकारे**—अहंकार। **मतशब्दवाच्ये**—मत शब्द का वाच्यार्थ है उसमें। **दृश्यताम**—देखो। **नेति को वदेत**—नहीं कौन कहता है।

टिप्पणी : आचार्य को पूर्व पक्षी प्रश्न करता है कि ब्रह्म-ज्ञान से मुझे क्या लाभ हुआ ? कारण यह कि क्षुधा-प्यास, सुख-दुःख मुझे पहले जैसे ही हैं। आचार्य अनुग्रह करके कहते हैं कि मत् शब्द के वाच्यार्थ में यह देखो तो कोई हानि नहीं। यह न्याय है कि शब्द के दो अर्थ होते हैं—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ जैसे, हम कहते हैं—इसका कुत्ते से परिक्षण करना। कुत्ता शब्द में गाय, बकरी, चूहा आदि भी लक्ष्यार्थ के रूप में स्थित है इसी प्रकार मत शब्द के वाच्यार्थ में यह क्षुधा, पिपासा आदि यदि हों तो हों, नहीं कौन कहता है ; परन्तु इनका लक्ष्यार्थ में प्रवेश नहीं है, जिसका तात्पर्य है कि मत रूपी शब्द का वाच्यार्थ मन है और लक्ष्यार्थ मन का साक्षी अन्तरात्मा है इस मन को ही क्षुधा-पिपासा आदि प्रतीत होते हैं, न कि साक्षी में।

अहङ्कारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥७७॥

अर्थ : **अविवेकतः**—अविचार से। **अहंकार चिदात्मानव**—अहंकार और चैतन्य आत्मा के। **एकीकृत्या**—एक बना के। **इदंमेस्यात्**—यह मुझे चाहिए। **इदंमेस्यात्**—यह मुझे चाहिए। **इति**—ऐसी **इच्छा**—इच्छा **कामशब्दतः**—काम शब्द का अर्थ कहा है।

टिप्पणी : ज्ञानवान पुरुष को इच्छा होती है जिसको इच्छाभास कहते हैं। वह इस इच्छा को अहंकार और चैतन्य आत्मा को एक बना कर कामना करता परन्तु जब विचार दृष्टि से अहंकार और चिदात्मा को भिन्न-भिन्न देखता है तो चैतन्य आत्मा में कामना नहीं देखता है। "यह मुझे चाहिए यह मुझे चाहिए।" कामना का अर्थ किया हुआ है। वास्तव में कोई कामना नहीं है।

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।
बुध्वापि पापबाहुल्यादसन्तोषो यथा तव ॥७८॥

अर्थ : ग्रन्थभेदे—चित्त जड़ की ग्रन्थि के नाश होने पर भी । इच्छा—इच्छा । प्रारब्ध दोषतः—प्रारब्ध दोष के कारण । संभाव्या—सभव है । यथा—जैसे । बुद्धा पि—जाना भी तुमने तो भी । पापबाहुल्यात्—पापों के प्राचुर्य के कारण । तव—तुमको । असंतोषो—सतोष नहीं होता है ।

टिप्पणी : यह सारा संसार चित्त जड़ की ग्रन्थि है, अर्थात् चैतन्य और जड़ का अन्योन्याध्यास है इसी को वेदान्त शास्त्र में चित्त-जड़ की ग्रन्थि कहते हैं। इस ग्रन्थि के खोलने को ग्रन्थि भेद कहते हैं । अब आचार्य कहते हैं, हे पूर्व पक्षी, मैं जानता हूं कि तुमको ग्रन्थि भेद हुआ है, अर्थात् चैतन्य को जड़ से अलग जान लिया है, परन्तु पापों के प्राचुर्य के कारण तुमको सतोष नहीं होता । यह तुम्हारे प्रारब्ध के कारण है । यहां आचार्य हास्यपूर्वक कहते हैं—जिसके कारण से तुम बारम्बार प्रश्न करते हो ।

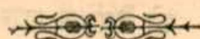
संगो हि बाध्यते लोके निः संगः सुखमश्नुते ।
तेन संगः परित्याजः सर्वदा सुख मिच्छता ॥७९॥

अर्थ : लोके—लोक में । संगो—विपक्षी का संग । बाध्यते—दुख को देता है । हि—निश्चय करके । नि संगो—संग रहित । सुखमश्नुते—सुख को भोगता है । तेन—इसलिये । सर्वदा—नित्य । सुखम इच्छतः—सुख के अभिलाषी को । संग परित्याजः—विपक्षी लोगों के संग को त्याग पदेना चाहिये ।

टिप्पणी : तात्विक सुख के अभिलाषी पारमार्थिक सुख के लिए विपक्ष के संग का परित्याग करते हैं कारण यह है कि विपक्षी लोग इस सुख के

अभिलाषी की वृत्ति को अन्य वस्तुओं की तरफ आकर्षित करते हैं। इसी कारण से साधक लोग विजन स्थान में रहने की चेष्टा करते हैं। यहां संग शब्द से विपक्षी का संग लेना चाहिए नहीं तो वृक्ष-पाषाण की तरह निसंग होने का भय है। साधक को अपने अनुरूप विचारक के साथ रहना चाहिए। एकान्तवास की भगवान ने गीता में कई स्थलों पर शिक्षा की है, जैसे: 'विविक्त सेवी लघ्वाशी···' और 'विविक्त देश सेवित्वमरतिर्जन संसदि।'

॥ यते चित्रदीप समाप्तः ॥



अथः तृप्तिदीप प्रकरणम् आरंभः

तृप्ति दीप नामी प्रकारण एक महत्वपूर्ण प्रकरण है। इसको एक श्रुति वाक्य से आरम्भ करते हैं और इसी श्रुति की इस प्रकरण में व्याख्या करते हैं-

आत्मानं चेद्विजानी यादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत ॥८०॥

अर्थ : चेत—यदि। **पूरुष**—जीव। **आत्मानं**—आत्मा को। **अयं**—यह। **अस्मिते**—मैं हूं ऐसा। **विजानीयात**--जानता हो। **किमिच्छन्**—किस भोग्य पदार्थ के लिए। **शरीरम्**—शरीर के। **कस्य कामाय**—किस भोक्ता के लिए। **अनुसंज्वरेत**—पीछे तापायमान होगा।

टिप्पणी : जब जीव अपने अन्तरात्मा को अपरोक्षता के साथ करामलवत् जानता हो तो पश्चात् भोग, भोक्ता को अभेद दृष्टि से देख कर कैसे शरीर के दुःख-सुख के पीछे विक्षिप्त होगा ? अर्थात नहीं होगा। जब साधक 'मैं ही ब्रह्म हूं' ऐसा अनुभव प्राप्त करता है तो समस्त सुख-दुख से परे

हो जाता है। ऐसी अवस्था शनै-शनै प्राप्त होती है। इसीलिए श्री भगवान ने श्री मद् भगवद्गीता में कहा है—

"बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान माम प्रपद्यते"

बहुजन्म दृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात्।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्व धीरपि ॥८१॥

अर्थ : बहुजन्म—बहुत जन्मों के। **दृढ़ाभ्यासा**—दृढ़ अभ्यास के द्वारा। **देह आदिषु**—देह आदि में। **आत्मधी**—आत्मबुद्धि। **क्षणात्**—क्षण में। **पुनः पुनः**—फिर फिर। **एवम्**—इसी तरह। **उदेते**—उदय को प्राप्त होती है। **जगत**—जगत की। **सत्यत्वधीअपि**—सत्यता बुद्धि भी।

टिप्पणी : विचार श्रेणी के अन्त में, अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके यह मुमुक्षु किसी विलक्षण पदार्थ का अनुभव करता है। इसको वेदान्त की परिभाषा में अदृढ़ ज्ञान बोलते हैं। तत्पश्चात् कभी-कभी यह शरीर आदि आत्मा है और यह सारा संसार सत्य है—ऐसी भावना अनेक जन्मों के संस्कारों से होती है। इसको वेदान्त की परिभाषा में विपरीत भावना कहते हैं। मुक्ति का बन्धन तीन प्रकार का आचार्यों ने बताया है (१) प्रमाणगत संदेह (२) प्रमेयगत संदेह और (३) विपरीत भावना।

पहले दो संशय अर्थात प्रमाणगत संदेह और प्रमेयगत संदेह श्रवण और मनन से निवृत्त होते हैं। विपरीत भावना एकाग्रता से नष्ट होती है। प्रमाण, अर्थात् शास्त्र और प्रमेय वह ब्रह्म इन दोनों पर संशय न करना श्रवण, मनन से निवृत्त होते हैं और फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति कहा गया है। देह पर आत्मबुद्धि और जगत पर सत्यत्व बुद्धि को विपरीता भावना कहते हैं। यह विपरीत भावना फिर-फिर से उपज जाती है, जब तक कि निदिध्यासन पक्व न हो।

विपरीता भानेयमेकाग्र्यात्सा निवर्तते ।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥८२॥

अर्थ : अयं—यह देह आदि में आत्मबुद्धि । **विपरीता भावना**—विपरीत भावना होती है । **सा**—वह विपरीत भावना । **ऐकाग्रयात्**—एकाग्रता से । **निवर्तते**—दूर होती है । **एतत्**—यह एकाग्रता । **तत्त्वोपदेशात्प्रागेव**—तत्त्वोपदेश से पहले । **उपासनात्**—उपासना से । **भवते**—होती है ।

टिप्पणी : जैसे हम उपर निरूपण कर आए हैं, यह विपरीत भावना उपासना से एकाग्रता प्राप्ति के पश्चात् होती है । सुना है कृतोपासक मुमुक्षु जब आचार्य के पास तत्वोपदेश के लिए जाते हैं तो पहला श्लोक पढ़ कर सविकल्प समाधि में जुड़ गए । ऐसा उपासना का प्रभाव है । यह उपासना सद्गुरु बताते थे । प्रायः यह निर्गुण उपासना होती थी । देखा जाए तो आज-कल उपासना के अभाव से बड़े-बड़े शास्त्र पढ़ने के पश्चात् भी ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है इसका कारण उपासना का अभाव है । नहीं तो यदि नर्गाण उपासाना की जाए तो एक ही महा वाक्य से ज्ञान प्राप्त होता है ।

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिंतिताः ।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासे तद्भवेत ॥८३॥

अर्थ : अतएव—इसलिए । **अत्र**—इस । **ब्रह्मशास्त्रेपि**—वेदान्त शास्त्र में भी । **तत्**—वह । **चिंतिताः उपास्तयो**—उपासनाओं का विचार किया है । **प्रागनभ्यासिनः**—पहले अभ्यास हीन । **एकाग्रता**—एकाग्रभाव । **पश्चात्**—पीछे । **ब्रह्माभ्यासेन**—ब्रह्म अभ्यास से इनको । **भवेत**—होता है ।

टिप्पणी : शास्त्रों को सर्व हितैषी बताया है । वेदान्त शास्त्रों में उपासनाओं का विचार किया है । उपासना रहित अधिकारियों को वेदान्त

शास्त्र के चिन्तन का उल्लेख किया है। वेदान्त शास्त्र को एकाग्रता के बिना नहीं समझा जा सकता है। इस कारण से ब्रह्म शास्त्र के पढ़ने को भी उपासना माना है। पहले अकृतोपासक को अधिक शास्त्र का अवलोकन करने से वह उपासना हीनता निवृत्त होती है '

तच्चितनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रवोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं बिदुर्बुधाः ॥८४॥

अर्थ : **तच्चितनं**—उस ब्रह्म का चिन्तन। **तत्कथनम्**—उस ब्रह्म का ही कथन। **ततन्योन्यं**—आपस में उस ब्रह्म का। **प्रबोधनत्**—समझाना। **एतत्**—इस ब्रह्म के साथ। **एकपरत्वं**—तत्पर रहना। **ब्रह्माभ्यासं**—ब्रह्माभ्यास **बुधाः**—विद्वान लोग। **विदु**—जानते हैं।

टिप्पनी : साधारणतया देखा गया है कि साधक का चित्त एक ही विषय में नहीं लगता। इधर ब्रह्माभ्यास भी आवश्यक है। इस कारण से ग्रंथाकार ने कभी उस ब्रह्म का चिन्तन, कभी उसका कथन, कभी प्रश्नोत्तर रूपी प्रवोधन ब्रह्माभ्हास का लक्षण निरू ण किया है। मैंने एक संत के दर्शन किये जो अपनी गुदड़ी पर सुई से शास्त्र-वाक्य की कढ़ाई करता था। जब कोई सदश्य विचारवान उनके पास आता था तो गुदड़ी में से कोई पढ़कर शास्त्र वाक्य का प्रसंग छेड़ते थे। यदि कोई विपक्षी आ जाता था तो उसको भय देकर दूर करते थे। यह ब्रह्म अभ्यास का एक प्रतीक है। आधुनिक समय में देखा गया है कि साधक लोग राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक बातों में अधिक रुचि दिखाते हैं।

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥८५॥

अर्थ : **यद्यथा**—जो पदार्थ जैसा । **वर्तते**—है । **तस्य**—उसका । **तत्वं**—वास्तविकता । **हित्वा**—छोड़ के । **अन्यथाधी:**—विपरीत बुद्धि । **विपरीता भावना**—विपरीत भावना । **स्यात**—होती है । **यथा**—जैसे । **पित्रादव**—माता-पिता पर । **अरिधी**—शत्रु बुद्धि ।

टिप्पणी : जिस पदार्थ का जो वास्तविक स्वरूप होता है उसको त्याग कर उसे उल्टा समझना विपरीत बुद्धि है । माता-पिता सदा ही पुत्र-पुत्री के शुभचिन्तक होते हैं । कभी-कभी दुर्बुद्धि आधुनिक समय में अधिक देखा जाता है । यह सब विपरीत भावना के कारण होता है । जिसके बहुत से कारण आधुनिक समय में उपस्थित हैं ।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनत्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥८६॥

अर्थ : **साधू**—हे राम जी । **महतः**—महांन । **अब्धि**—समुद्र के । **पानात**—पीने से । **अपि**—भी । **सुमेरुन्मूलनात**—सुमेरु पर्वत के उखाड़ने से । **अपि**—भी । **वह्न्य**—अग्नि भक्षण करने से भी । **विषमः**—कठिन । **चित्त निग्रहः**—मन का निरोध है ।

टिप्पणी : आचार्य मन की प्रबलता को बताने के लिए वाशिष्ट का एक श्लोक प्रमाण में लाते हैं । महामुनि वशिष्ट जी श्री रामचन्द्र जी को कहते हैं, हे राम जी, समुद्र के पान करने से, सुमेरु पर्वत के उखाड़ने से, अग्नि को भक्षण करने से भी मन का निरोध कठिन है । हमारे पुराणों में कितनी ही ऐसी कथाएं हैं जिनमें ऋषियों ने समुद्र का पान किया, सुमेरु को जड़ से उखाड़ा तथा अग्नि का भक्षण किया, जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र का पान किया था । मन के निरोध की कठिनाई मन के निरोध करने वाले को ही मालूम होती है । मन को अत्यंत चंचल और शीघ्रगामी शास्त्रों में बताया

जितना-जितना मन निरुद्ध होता जाएगा, उतना ही सुख प्राप्त होता
गा। सुख मन का एक विकार है। चंचल मन में अपने सुख-स्वरूप
मा का प्रतिबिम्ब नहीं अंकित हो सकता, जैसे शीघ्र गति से हिलने वाला
ण मुख का प्रतिबिम्ब स्थिर नहीं कर सकता।

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥८७॥

अर्थ : अन्य अभ्यास शालिनः—और तर्क आदि शास्त्रों के अभ्यास
र्ता को। अवसरो—समय ही। तत्वस्मतेर—ब्रह्म तत्व के सुमिरन करने
। नास्ति—नहीं होता है। प्रत्युत—अपितु। अभ्यासघातित्वात्—वह
न्य काव्य, तर्क, शास्त्र ब्रह्म अभ्यास का नाशक होने के कारण। बलात्—
बलता से। तत्वम्—ब्रह्म तत्व को। उपेक्ष्यते—छोड़ता है।

टिप्पणी : मुमुक्षु को काव्य, नाटक, तर्क आदि में अभ्यास करना उचित
हीं है। इन विषयों के अभ्यास में मुमुक्षु का तत्व-विचार छूट जाता है।
मुक्षु को निरन्तर ब्रह्म अभ्यास करने से मुक्ति फल प्राप्त होता है। अन्य
वषय यदि ग्राह्य भी हों तो भी मुक्ति का फल नहीं मिलता।

स्वामी शंकराचार्य जब एक नदी को किसी योगी के साथ पार करना
ाहते थे और नाव की प्रतीक्षा करते हुए योगी ने पूछा, क्या आप पानी पर
नहीं चल सकते हैं? जब शंकराचार्य ने 'नहीं' कहा तो योगी पानी पर चल
कर पार उतर गए। स्वामी शंकराचार्य एक कौड़ी देकर नाव से पार उतरे।
और योगी से पूछा, आपको यह सिद्धि कितने समय में प्राप्त हुई? जब सुना
बीस वर्ष यह सिद्धि प्राप्त करने में लगे, तब स्वामी जी ने कहा. आपके बीस
वर्ष के परिश्रम की एक कौड़ी के मूल्य के बराबर गिना जाएगा।

जनकादेः कथ राज्यमिति चेदृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥८८॥

अर्थ : **जनकादे**—राजा जनक जैसे जीवन-मुक्तों ने । **कथं राज्यं**—कैसे राज्य किया ? **इतिचेत**—यदि ऐसा पूछोगे । **दृढबोधतः**—उनको ज्ञान दृढ़ था । **तथा**—वैसा ही । **तवापिचेत**—यदि तुम्हारा भी वैसा ही ज्ञान है । **तर्क**—तर्क शास्त्र । **पठ**—पढ़ो । **यद्वा**—या । **कृषिं कुरु**—खेती करो ।

टिप्पणी : दृढ़ ज्ञानवान प्रारब्ध के अनुसार भिन्न-भिन्न कर्म करते थे, परन्तु ज्ञान उनका एक जैसा होता था । पूर्व पक्षी पूछता है—राजा जनक जैसे जीवन मुक्त ने कैसे राज्य किया ? यदि आप कहते हैं, और विषयों का अभ्यास नहीं करना चाहिए तो आचार्य कहते हैं, यदि तुम्हारा ज्ञान दृढ़ है तो तुम तर्क शास्त्र पढ़ो या खेतावारी करो, कोई हानि नहीं । कहा है :—

"कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनक राघवौ ।
वशिष्टा कर्म कर्ता चेतिः ज्ञानिनो समः ॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनञ्चात्र समे प्रारब्ध कर्मणो ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥८९॥

अर्थ : **अत्र**—इस वर्तमान शरीर में । **ज्ञानिनो ज्ञानिनश्च**—ज्ञानी और अज्ञानी को । **प्रारब्ध कर्मणो**—प्रारब्ध कर्म । **समे**—समान होते हैं । **ज्ञानिनो**—ज्ञानी को । **धैर्यात**—धैर्य से । **न क्लेशो**—क्लेश नहीं होता । **मूढः**—अज्ञानी । **अधैर्यतः**—अधीरता के कारण । **क्लेश्यते**—दुःखी होता है ।

टिप्पणी : ज्ञानी-अज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के वश सुख-दुःख समान होते हैं ।

वर्तमान शरीर को प्रारब्ध का पिण्ड कहते हैं। अतः ज्ञानवान की अज्ञानी सदृश प्रारब्ध के अनुसार सुख-दुःख होते हैं परन्तु ज्ञानवान पुरुष धैर्य के रण दुःख में दुखी नहीं होता और सुख में फूल नहीं जाता इसके विपरीत धैर्य के कारण अज्ञानी दुख में दुःखी होता है और सुख में उछल जाता है। ी कारण से भगवान ने गीता में कहा है :—

"सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभो जयाजयौ।"

मार्गे गंत्रोर्द्वयो श्रांतौ समायामप्यदूरताम।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥६०॥

अर्थ : मार्गे—पथ पर (रास्ते पर)। गंत्रो—चलने वाले। द्वयो—दोनों। ांतो—थके होते हैं। दूरताम—दूरता। समायाम अपि—यदि समान भी। जानन्—जानने वाला। धैर्याद—धैर्य से। द्रुतं—शीघ्र (जल्दी)। च्छेत्—चलता है। अन्यः—दूसरा न जानने वाला। दीनधीः—दीन-बुद्धि कर। तिष्ठति—वहीं बैठता है।

टिप्पणी : इस दृष्टान्त का मर्म सर्वसिद्ध है। दो पर्यटनगामी जब चलते तब मार्ग के अन्त को न जानने वाला यह समझ कर कि मालूम नहीं पड़ाव कतना दूर है, थकने के कारण वहीं बैठ जाता है। जो पड़ाव को जानने ाला पर्यटक हो, वह यह समझ कर कि पड़ाव थोडा ही दूर है, जल्दी जल्दी चलता है।

गंधर्वपत्तने किंचिन्नैद्रजालिकनिर्मितम्।
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ॥६१॥

अर्थ : जानन्—जानने वाला। ऐन्द्रजालिक—बाजीगर की। निर्मितम्—

बनायी हुई। गंधर्वपत्तने—झूठी नगरी से। न किंचित्—कुछ भी नहीं कामयते—चाहता है। किंतु—प्रत्युत। इदम्—इस। हसन्—हसता हुआ जहासति—छोड़ता है।

टिप्पणी : यह सिद्ध है, जो वस्तु झूठी होती है उसकी कामना नहीं सकता, जैसे चल-चित्र में हम प्रिय वस्तु को देखते हैं, उस वस्तु की प्राप्ति उस समय कामना नहीं करते हैं। जब यह समझ में आ जाय कि वस्तु झूठी तो उसकी कामना नहीं की जाती है। वैसे ही ज्ञानवान को यह सांसारिक पदार्थ सब असत् प्रतीत होते हैं, इस कारण से सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना नहीं रखता है। कितने विचारवान इस कामना को भी माया के अन्न: पाती होने के कारण इसे भी झूठा समझते हैं। अत: सिद्ध हुआ, काम्य और कामना दोनों असत् हैं।

यह भाव शनै:-शनै: साधक के मन में आ जाता है। कितने ही साधकों को स्त्री-पुत्रादिक की कामना अधिक रहती है, कितनों को सामान्यतः भगवान के कहे जैसे होता है :—

"असक्तिरनभिष्वंग: पुत्रदार: गृहादिषु।"

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान्।
नानुरज्यति किंत्वेतान दोषदृष्ट्या जिहासति ॥६२॥

अर्थ : एवम्—इसी तरह। विचारवान्—विचारशील पुरुष। आपात रमणीयेषु—प्रतीति मात्र में रमणी। भोगेषु—भोगों में। नानुरज्यति—अनुरागी नहीं होता। किन्तु तान—प्रत्युत उन भोगों को। दोषदृष्ट्या—दोष दृष्टि से। जहासति—छोड़ता है।

टिप्पणी : कहते हैं, एक विचारशील पुरुष को रास्ते में एक प्रेत डरा

के लिए कभी लम्बा होता था। इस पर विचारवान ठा—ठा करके हंसने लगा तो प्रेत आश्चर्य से पूछता है, कि आप ने क्यों हंसा ? उत्तर दिया कि तुम कभी लम्बे होते थे, कभी छोटे होते थे। मैं तुम्हें कपड़े सिलवाने थोड़े ही जाता था।, जो तुम कभी लम्बे होते थे और कभी छोटे। मैं तुमको प्रतीति मात्र समझता था। इसी तरह ज्ञानवान पुरुष सांसारिक कामों को असत् जान कर छोड़ता है और हंसता है।

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान क्लेशकारिणः ।।६३।।

अर्थ : अर्थानामर्जंते--धन, पुत्र, सम्पत्ति सब अर्थों को अर्जन करने में। **क्लेशः**—दुःख होता है। **तथैव**—इसी तरह। **परिपालने**—इन अर्थों के परिरक्षण में दुःख होता है। **नाशे दुःखं**—नाश होने में दुःख होता है। **व्यये दुःखं**—व्यय होने में भी दुःख होता है। **धिग्**—धिक्कार हो। **क्लेश कारिणः**—दुःख देने वाले। **अर्थान**—अर्थों को।

टिप्पणी : विचार से देखा जाय तो समस्त अर्थों को सिद्ध करने में, परिश्रम करने में, व्यय करने में तथा नाश होने में अत्यन्त क्लेश होता है, जैसे :—दुःख से अर्जन किया हुआ धन बेंक में परिरक्षण के लिए रक्खा जाता है। चोर आदि न ले जाय। यदि खर्च हुआ तो भी दुःख होता है। अथवा यदि चोर या सरकार छीन ले तो भी दुःख होता है। इसी अनुमान से शरीर से लेकर धन, स्त्री, पुत्र, खेत आदि को विचारवान को समझना चाहिए। इस पर शास्त्र के तथा इतिहास के अनेकों प्रमाण विद्यमान हैं।

प्रारब्ध कर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येषभुंक्ते विष्टिगृहीतवत् ।।६४।।

अर्थ : यदि—यदि । प्रारब्ध कर्म—प्रारब्ध कर्म के । प्राबल्यात्—प्रबलता से । भोगेषु—भोगों में । इच्छा भवेत्—इच्छा होती है । तदापि—तो भी । एष—यह विद्वान । क्लेशन्नैव—दु:ख से ही । भुंक्ते—भोगता है । विष्टिगृहीतवत्—बेगारी की तरह ।

टिप्पणी : प्रारब्ध कर्म के विभाग किए हैं । एक स्वेच्छा, दूसरा परेच्छा, तीसरा अनेच्छा, विद्वान को स्वेच्छा नहीं होती है । वह परेच्छा और अनेच्छा के कारण भोग भोगता है और दु.खसा मानता है, जैसे बेगारी से काम कराया जाता है । अत: आचार्य पूर्व पक्षी को कहते हैं कि विद्वान पुरुष स्वेच्छा के विना दु:ख मान कर और प्रारब्ध कर्म की प्रबलता मान कर भोगता है ।

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।
अन्यथाऽनंत भोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ।।६५।।

अर्थ : विवेकेन—विचार से । परिक्लिश्यन्न—क्लेश मानता हुआ । अल्पभोगेन—थोड़े से भोग से । तृप्यति—तृप्त होता है । अन्यथा—नहीं तो दूसरे विचार-हीन पुरुष । अनन्त—असीम । थोगेऽपि—भोगों से भी । नैव—नहीं । तृप्यति—तृप्त होते हैं । कर्हिचित्—कभी भी ।

टिप्पणी : जो तात्त्विक विचारवान होते हैं, वे क्षुधा पिपासा आदि भोगों को थोड़े से ही भोगने में संतुष्ट होते हैं । विचार-हीन पुरुषों को अनन्त भोग भोगने पर भी तुष्टी नहीं आती । विचारवान मानता है कि भोग तृष्णा अग्नि सदृश्य है । जितना अग्नि को आहुति दे दें, उतना अधिक प्रज्वलित होता जाता है । विद्वान भोगों में मन का दोष, शरीर का दोष और भोग्य पदार्थ का दोष सदैव विचार करते हैं । अतः भोगने के समय यह विचार क्लेश देते हैं ।

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥९६॥

अर्थ : कामानां—काम-सहित जीवों का। **कामः**—काम। **उपभोगेन**—भोगने से। **न जातु**—कभी भी नहीं। **शाम्यति**—शान्त होता है। **हविषा**—आहुति से। **कृष्णवर्तम**—अग्नि। **भूय एव**—फिर से। **अभिवर्धते**—भड़क उठती है।

टिप्पणी : कामना-सहित जीवों की कामना भोगने से शान्त नहीं होती, जैसे अग्नि आहुति से शान्त नहीं होती है।

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति पुष्टये।
विज्ञाय सेवितञ्चोरो मैत्री मेति न चोरताम् ॥९७॥

अर्थ : परिज्ञाय—जान कर। **उपभुक्तो हि**—भोग को भोगा हो। **भोगो**—वह भोग। **तुष्टये**—तुष्टि के लिए। **भवति**—होता है। (जैसे) **विज्ञाय**—जान-पहचान कर। **चौरो**—चोर से। **सेवितः**—व्यवहार किया हो तो। **मैत्रीम्**—मित्र भाव को। **एते**—पहुंचता है। **न चोरताम्**—चोर भाव को नहीं।

टिप्पणी : संसार को यदि असत्य जाना हो तो सांसारिक भोग भोगने से तुष्टि आती है। न कि संसार को सत्यता प्राप्त होती है, जैसे चोर को जान कर उससे व्यवहार किया जाय तो धोखा नहीं मिलता। व्यवहार करने वाले के मन में यह निश्चय होता है कि मैं अमुक चोर से व्यवहार कर रहा हूं तो धोखा नहीं खाता।

मनसो निगृहीतस्य लीला भोगोऽल्पकोऽपियः।
तमेवालब्धनिस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥९८॥

अर्थ : निगृहीतस्य—विचार से वशीभूत किया हुआ। मनसो—मन। यः—जो। लीला भोगो—लीला के अर्थ भोग किया। अल्पकोऽपि—थोड़ा सा भी हो। तमेव—उसको भी। अलब्ध विस्तारं—बहुत विस्तार न पाया हुआ। क्लिष्टत्वाद्—क्लेश देने वाला होने के कारण। बहुमन्यते—बहुत मानता है।

टिप्पणी : जीवन के लिए कई भोग अनिवार्य होते हैं, जैसे क्षुधा, पिपासादि। ज्ञानवान इन भोगों को बहुत लम्बा-चौड़ा न करके तुष्ट होता है और लीला-भोग मानता है भोग के साधनों को बहुत लम्बा-चौड़ा बना कर मनुष्य दुःखी होता है। ज्ञानवान इनको संक्षेप में भोगने से तुष्टि प्राप्त करता है। भोग को औषधिवत् समझ कर भोगता है, न कि स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिए भोगता है।

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राम मात्रेण तुष्यति।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहुमन्यते ॥६९॥

अर्थ : बद्धमुक्तो—कारागार से मुक्त हुआ। महीपालो—राजा। ग्राम मात्रेण—केवल एक गाव से। तुष्यति—तुष्ट होता है। परै—दूसरे शत्रुओं ने। न बद्धो—न बन्द किया हुआ। नाक्रांतो—न दबाया हुआ हो। राष्ट्रं—अपने सारे राज्य को भी। न—नहीं। बहु मन्यते—बहुत मानता है।

टिप्पणी : यह सर्व सिद्ध है 'कुछ', 'न कुछ' से अच्छा है। जब किसी राजा पर आक्रमण किया जाता है और शत्रु उसको पकड कर कारागार में डालते हैं, तत्पश्चात् राजा से पूचा जाता है, क्या आप कारागार में ही रहना चाहते हैं अथवा राज के बदले एक गांव में रहना चाहते हैं ? राजा तुरन्त कारागार से एक गाव में रहना स्वतंत्रता से पसंद करता है। दूसरे पक्ष में

यदि राजा को न तो आक्रमण हुआ हो, न किसी ने दबाया हो तो अपने समस्त राज्य से संतुष्ट नहीं होता। यही भाव इस श्लोक में अंकित है।

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि।
जानंत एव स्वानर्थमिच्छंत्यारब्धकर्मतः ॥१००॥

अर्थ : अपथ्य—बुरे मार्ग को। **सेविनः**—सेवन करने वाला। **चोरा**—चोर। **राजदाररता अपि**—महारानी से प्रेम करने वाला अन्य भी। **स्वानर्थम्**—अपने बुरे काम को। **जानंत एव**—जानता ही है (परन्तु)। **आरब्ध कर्मतः**—प्रारब्ध कर्म से। **इच्छन्ति**—इच्छा करता है।

टिप्पणी : बहुत से काम हम ऐसे करते हैं जिनका दोष हमें स्पष्टता से निश्चित होता है। हम अपने अनुभव से जानते हैं कि अमुक पदार्थ हमारे स्वास्थ्य को बिगाड़ देगा तथापि यह जान कर भी हम उस पदार्थ का सेवन करते हैं। इसी प्रकार क्या चोर नहीं जानता है कि यदि पकड़ा गया तो अवश्य दण्ड मिलेगा या कोई अन्य पुरुष राजा के बिना रानी से प्रेम करता है, वह भी जानता है कि इस प्रेम करने में यदि पकड़ा गया तो राजा फांसी पर लटकाएंगे, परन्तु यह सब जान कर भी जान की बाजी लगा कर इन बुरे कर्मों को किया जाता है। कारण यह है कि यहां पर प्रारब्ध कर्म या ईश्वरेच्छा कुमार्ग पर चलने वालों का नियमन करती है।

अवश्यंभाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलराम युधिष्ठिराः ॥१०१॥

अर्थ : भावानां—पदार्थ के। **अवश्यंभावी**—अवश्य होने का। **यदि**—यदि। **प्रतिकारो**—कोई उपाय। **भवेत**—होता। **तदा**—तब। **नलराम**

युधिष्ठिरा—राजा नल, रामचन्द्र जी और युधिष्ठिर आदि। **दुःखैर्न**—दुःख से नहीं। **लिप्येरन्न**—लिपायमान होते हैं।

टिप्पणी : जीवों को प्रारब्ध कर्म का फल अवश्य मिलता है। प्रारब्ध कर्म तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम होते हैं। किसी यती को मधुकरी भिक्षा घर-घर फिरने से मिलती है इसको तीव्र प्रारब्ध-फल कहते हैं। यदि इसी यती को भिक्षा अपने आसन पर ही मिले तो इसको तीव्रतर प्रारब्ध कहते हैं और यदि इसी यती को संम्मान से निमंत्रित किया जाए तो इसको तीव्रतम प्रारब्ध कहते हैं। यह सब सुखरूप प्रारब्ध है। इसी प्रकार यदि किसी जीव को कोई किसी प्रकार की अस्वस्थता हो जाए और न्यून चिकित्सा, उपवास आदि के करने से निवृत्त हो जाए तो इसको दुःख रूप तीव्र प्रारब्ध कहेंगे। यदि अधिक अस्वस्थ हो जाए और चिकित्सालय जाना पड़े तो इसको दुःख रूप तीव्रतर प्रारब्ध कहेंगे तथा यदि ऐसा कोई रोग हो जाए जिसका कोइ उपाय न हो तो इसको तीव्रतम प्रारब्ध कहेंगे। इस श्लोक में आचार्य तीव्रतम प्रारब्ध के प्रति कहते हैं कि यदि कोई प्रतिकार होता तो राजा नल, श्री रामचन्द्र जी और युधिष्ठिर आदि को दुःख नहीं होते। यह सर्व अनुभव सिद्ध है कि तीव्र और तीव्रतर प्रारब्ध का उपाय हो सकता है। इस कारण अनुमान से कहा जा सकता है कि आचार्य का तीव्रतम प्रारब्ध के प्रति वाक्य है।

न चेश्वरत्व मीशस्य हीयते तावता यतः।
अवश्यं भाविता प्येषामी श्वरेणैव निर्मिता ॥१०२॥

अर्थ : तावता—इससे। **ईशस्य**—ईश्वर की। **ईशरत्वम्**—ईश्वरता। **न हीयते**—नष्ट नहीं होती। **यतः**—क्योंकि। **अवश्यंभावितऽपि**—अवश्य भावी भी। **ईश्वरे णैव**—ईश्वर ने ही। **निर्मिता**—रचा है।

टिप्पणी : समष्टि रूप ईश्वयर की कमर्तु-श्रकर्तुम श्रन्यथा कर्तुम व्याख्या की है। पूर्व पक्षी पूछते हैं—जब प्रारब्ध कर्म ही सुख-दुःख देने वाला है तो ईश्वर की क्या श्रावश्कता है ? तो श्राचार्य कहते हैं कि प्रारब्ध का श्रवश्यं-भावनी होना ईश्वर ने ही रचा है। इस कारण से ईश्वर का हम निराकरण नहीं कर सकते। कारण यह है कि प्रारब्ध फल के प्रति जो विधियां हैं उसका निरीक्षण श्रौर परिरक्षण ईश्वर ही करता है।

नानिच्छंतो न चेच्छंतः परदाक्षिण्य संयुताः।
सुख-दुःखे भजंत्ये तत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥१०३॥

श्रर्थ : श्रनिच्छंतो—न-नहीं चाहता हुश्रा। **न च इच्छंतः**—न चाहता हुश्रा भी, **परदाक्षिण्य**—दूसरे के श्रनुरोध के। **संयुताः**—सहित। **सुख-दुःखे**—सुख-दुःख को। **भजत्ये**—भोगता है। **एतत हि**—यही न इच्छा करके। **परेच्छापूर्व**—दूसरे की इच्छा पूर्वक। **कर्म**—प्रारब्ध कर्म है।

टिप्पणी : श्रब विद्वान ज्ञानवान को परेच्छा पूर्वक सुख-दुःख भोगने का विचार करते हैं। ज्ञानवान को श्रपनी कोई इच्छा नहीं होती है। निष्काम रूप भगवत श्रर्पण कर्म करता है। यह कर्म परेच्छा से या श्रनेच्छा से करता हैं। इस कारण से सुख-दुःख से लिपायमान नहीं होता है। यहां पर भी मात्रा का विभाग है। जिस-जिस मात्रा में परेच्छातूर्वक या निष्काम कर्म करता है, उसी मात्रा में दुःख या श्रानन्द भोगता है।

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षरणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छा प्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१०४॥

श्रर्थ : दग्धबीजं श्ररोहंपि—भुना हुश्रा बीज नहीं उगता है। **भक्षरणाय**—खाने के। **उपयुज्यते**—काम श्राता है। **श्रल्पभोगं**—थोड़ा सा भोग।

विद्विदच्छापि—विद्वान इच्छा से भी। **कुर्यात**—करता है। **न व्यसनं बहु**—बहुत दु:ख को नहीं प्राप्त होता है।

टिप्पणी : कर्म रूपी बीज के दो अंकुर होते हैं, एक भोग रूप अंकुर और दूसरा वासना रूप अंकुर। भोगरूप अंकुर तो भोगने से समाप्त होता है पर वासना रूप अंकुर पुन:-पुन: काम कराता है और इसी चक्कर में समस्त आयु समाप्त होती है अर्थात् कर्म से भोग और भोग से कर्म। परन्तु ज्ञानवान इससे विलक्षण हैं। उसको भोग रूप कर्म तो होता है परन्तु वासना रूप नहीं, जैसे भुना हुआ बीज खाने के काम तो आता है, परन्तु जमने के काम नहीं आता।

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम्।
मा विघ्ना: प्रतिबन्धुंतु धन्यो स्म्यस्मादिति भ्रम: ॥१०५॥

अर्थ : अयं—यह। **भोगो**—भोग। **मा विनश्यत्व**—नाश न हों। **वर्धताम**—बढ़ते रहें ही। **उत्तरोत्तरम**—लगातार। **विघ्न:**—विघ्न भी। **मा प्रतिबन्धुतु**—प्रतिबन्ध न करें। **अस्मात**—इन भोगों से। **धन्योस्म्ये**—भाग्यवान हूं मैं। **इति**—यह सोचना। **भ्रम:**—धोखा है।

टिप्पणी : साधारण मनुष्य की यह गुप्त इच्छा रहती है कि यह स्त्री-पुत्रादिक भोग नष्ट न हों, प्रत्युत यह भोग समूह बढ़ते रहें तथा कोई विघ्न भी न आ जाए। कारण यह है कि मैं इन भोग-समूहों के द्वारा भाग्यवान हूं। आचार्य कहते हैं, ऐसी इच्छा रखना एक भ्रम है। अर्थात् यह नहीं हो सकता है।

यद भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रम निवर्तक: ॥१०६॥

अर्थ : **यद्भावि**—जो न होना हों। **न तद्भावि**—वह नहीं होगा। **भाविचेत**—यदि होता होगा। **न तदन्यथा**—वह उल्टा नहीं होगा। **इति**—ऐसा। **श्रयम बोधो**—यह जानना। **चिंता**—चिंता रूपी। **विषघ्नो**—जहर को नाश करता है श्रौर। **भ्रम निवर्तक:**—भ्रम को दूर करता है।

टिप्पणी : हममें से नब्बे प्रतिशत निरर्थ चिंताएं करके हम श्रपने श्राप में निरर्थ खिचाव लाते हैं, जैसे कल बारिश न हो, विमान चालू हो जाए, पुत्र परीक्षा में सफल रहे, हमको प्रार्थना पत्र पर काम मिले इत्यादि। इसी प्रकार की हजारों चिन्ताएं हम ले बैठते हैं श्रौर ये समस्त चिन्ताएँ निरर्थ होती है, हमारा इसमें कोई बस नहीं चलता। सच तो यह है कि जो होना हीगा, वह होकर ही रहेगा श्रौर जो नहीं होना होगा, वह कदापि नहीं होगा। हमारी चिन्ता से न तो कल बारिश रुकेगी, न ही विमान चल पड़ेगा श्रौर न ही पुत्र की सफलता होगी, इत्यादि।

ऊपर के श्लोक में इच्छाऐं करना या चिन्ताएँ करना निरर्थ है। इस कारण से श्राचार्य कहते हैं कि जो होना होगा, होकर रहेगा—ऐसा विचार चिन्ता रूपी विष का नाश करता है। जहां तक यत्न का प्रश्न है, वह तो करना श्रवश्य है श्रौर फल की चिन्ता करना निरर्थ है।

समे पि भोगे व्यसनं भ्रांतो गच्छेन्न बुद्धवान्।
श्रशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रांतस्य व्यसनं बहु॥१०७॥

अर्थ : **समेऽपि**—यदि समान भी है। **भोगे**—भोग। **भ्रान्तो**—भ्रान्त पुरुष। **व्यसनं**—दुःख को। **गच्छेत**—प्राप्त होता है। **न बुद्धवान**—बुद्धिमान मनुष्य नहीं। **श्रशक्यार्थस्य**—श्रसम्भव होने के श्रर्थ से। **संकल्पात्**—संकल्प करने से। **भ्रान्तस्य**—भ्रान्त पुरुष को। **व्यसनं बहु**—दुःख बहुत होता है।

टिप्पणी : भोगों के भोग रूप अंकुर ज्ञानी और अज्ञानी को समान होते हैं। ज्ञानी को वासना रूप अंकुर नहीं होता। अतः दुःख भी नहीं होता। इसके विपरीत अज्ञानी असम्भव पदार्थों का चिन्तन करके दुःख भोगता है।

मायामयत्वं भोगस्य बुद्धाऽऽस्थामुपसंहरन्।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः॥१०८॥

अर्थ : भोगस्य—भोग्य पदार्थ की। **मायामयत्वं**—झूठा। **बुद्धा**—जान कर। **आस्थाम**—सत्य भाव को। **उपसंहरन्**—समाप्त करके। **भुंजानोऽपि**—भोगता भी यदि हैं। **न संकल्पं**—संकल्प नहीं। **कुरुते**—करता है। **व्यफनं कुतः**—दुःख कैसे होगा ?

टिप्पणी : बाजीगर की बनाई हुई मिठाई यदि लोग चखते भी हैं और पूरा आस्वाद लेते हैं, असत् जानकर उसका संकल्प नहीं करते। इसी प्रकार ज्ञानी भोग्य पदार्थों को भोगता है तो उनको असत् मानकर संकल्प नहीं करता, अतः दुःख भी नहीं होता। अर्थात् भोग्य पदार्थ को पुनः भोगने की चेष्टा नहीं करता, जैसे मनुष्य बाजीगर की मिठाई को फिर नहीं चाहता।

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम्।
चिंतयेदप्रमतः सन्नुभावानुदिनं मुहुः॥१०९॥

अर्थ : आपरोक्षेण—अपरोक्षता से। **स्वस्वप्ननम्**—अपने स्वप्न को। **दृष्ट्वा**—देख कर। **स्वजागरम्**—अपने जागृत को। **पश्येत**—देखता है। **उभौ**—दोनों। **अप्रमतः**—सावधान। **सन्न**—होकर। **अनुदिनं**—प्रति दिन। **मुहुः**—बारम्बार। **चिंतएत**—विचार करने चाहे।

टिप्पणी : स्वप्न में सुख-दुःख ऐसे प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे जागृत अवस्था

में। यह सर्व-सिद्ध है। अब आचार्य स्वप्न और जागृत अवस्था की समानता करने का उल्लेख करते हैं। वेदान्त की परिभाषा में इस अभ्यास को बहुत उत्तम माना है। इस अभ्यास से हम जागृत को भी असत सिद्ध करते हैं। जागृत अवस्था में आकर हमें स्वप्न क्षणिक प्रतीत होता है, परन्तु स्वप्नकाल में ऐसी कोई संभावना नहीं है। स्वप्न में हम अपनी गाय का दूध पीते हैं, वहां यह हमको संकल्प नहीं आता कि गाय कब खरीदी, कब सोई और कब दूध देने लगी, परन्तु दूध के चखने का आनन्द हम लेते हैं।

चिरंतयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥११०॥

अर्थ : **तयोः**—उन स्वप्न जागृत का। **सर्वसाम्यम्**—हर प्रकार से समानता। **चिरं**—बहुत काल तक। **अनुसंधाय**—स्मरण करके। **जागरे**—जागृत का। **सत्यत्व**—सत्यभाव की। **बुद्धिं**—बुद्धि। **संत्यज्य**—छोड़कर। **पूर्ववत्**—पहले की तरह। **नानुरज्यति**—अनुरागी नहीं होना।

टिप्पणी : यदि स्वप्न और जागृत अवस्था की समानता मुमुक्षु प्रतिदिन नियम से करे तो फलस्वरूप उसको जागृत की सत्यता कम होती जाती है। जागृत के पदार्थों में फिर अनुराग उतना नहीं करता। जितना-जितना यह अभ्यास पक्का होता जाएगा, उतनी-उतनी ही जागृत की सत्यता कम होती जाएगी और राग भी कम हो जाएगा, जैसे स्वप्न पदार्थ का हमें कम राग होता है। स्वप्न का देश-काल तो सिद्ध ही है, परन्तु जागृत का कोई देश-काल नहीं हैं।

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः।
तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ॥१११॥

अर्थ : **भशकध्वनि**—मच्छर की आवाज । **मुख्यानां**—से लेकर । **विक्षेपाणां**—विक्षेपों के । **बहुत्वत:**—बहुत होने से । **तव**—तुम्हारा । **विद्या**—ज्ञान । **तथा न स्यात्**—वैसा न होगा । **यथा**—जैसा । **दृढा**—सुदृढ़ । **घटादीनां**—पट पर आदि पदार्थों में ।

टिप्पणी : समाधि बहुत प्रकार की है, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि, जड़ समाधि, सगुण समाधि, निर्गुण समाधि, दृढ़ समाधि, अदृढ़ समाधि, इत्यादि । विवादी अदृढ़ संप्रज्ञात समाधि की ज्ञान से तुलना करते हैं । इस पर आचार्य हास्य रूप से समझाते हैं कि तुम्हारी समाधि मच्छरों की आवाज से लेकर और अन्य विक्षेपों से आवृत होकर इतनी सुदृढ़ नहीं होती जितनी घट-पट वृक्ष-पाषाण की होती है । वृक्ष-पाषाण आदि की समाधि किसी ध्वनि विशेष से नहीं छूट जाती ।

आत्म धीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।
दुष्ट चित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्धि त्वं यथा सुखम् ॥११२॥

अर्थ : **यदि**—यदि कहो । **आत्म धीरेव**—आत्म-ज्ञान ही । **विद्येति**—ज्ञान है ऐसा । **तर्हि**—फिर । **सुखी भव**—सुखी रहो । **चेति**—यदि । **दुष्टचित्तं**—दुष्ट अन्त: करण को । **निरुन्ध्यन्**—निरोध करना है । **निरुन्धित्वं**—तो तुम निरोध करो । **यथा सुखम**—सुख के साथ ।

टिप्पणी : कई महापुरुष समाधि को ही ज्ञान मानते हैं । ज्ञान और वस्तु है और समाधि कुछ और । जब पूर्व पक्षी यह स्वीकार करता है तो आचार्य उसको आशीर्वाद देते हैं—'सुखी रहो' । आचार्य फिर कहते हैं कि यदि दुष्ट अन्तःकरण का निरोध करना हो तो समाधि के ऐकाग्र से करो, जैसा चाहे, वैसा ।

जितने भी सुख-दुःख हैं, वे आभास सहित अन्तः करण के धर्म हैं। समाधि से समाधिकाल में अन्तःकरण के एकाग्र होने के कारण आनन्द लाभ होता है। आनन्द का लाभ परिपक्व होने पर थोड़े से शास्त्र वाक्यों से ज्ञान प्राप्त होता हैं।

या प्रीतिरविवेकेनां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माप सर्पतु ॥११३॥

अर्थ : अविवेकानां—विवेक से रहित मनुष्यों को। **या प्रीतिर**—जो प्रीति। **सा**—वह प्रीति। **विषयेष्व**—विषयों में। **अनपायिनी**—नाश-रहित होती है। **मे हृदयात**—मेरे हृदय से। **त्वामनुस्मरतः**—आप परमेश्वर का स्मरण करने वाले मुझको। **माप**—हे नारायण। **प्रसर्पतु**—दूर हो।

टिप्पणी : इस श्लोक का अर्थ प्रार्थना रूप है। अर्थ स्पष्ट है।

काव्य नाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरंतरम् ।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत ॥११४॥

अर्थ : यथा—जैसे। **विजिगीषू**—अन्य वादियों को जीतने की इच्छा रखने वाले। **काव्यनाटकतर्कादि**—काव्य-नाटक, तर्कादि। **निरन्तरम्**—प्रतिदिन। **अभ्यस्यति**—अभ्यास करते हैं। **तद्वत्**—उसी प्रकार। **मुमुक्षु**—मुक्ति को चाहने वाला। **स्वं**—अपने स्वात्मा को। **विचारयेत्**—विचार करे।

टिप्पणी : जो बड़े व्याख्यान-कर्ता और गोष्ठियों में अन्य वादियों को जीतना चाहते हैं, वे प्रतिदिन काव्य-पुस्तक, नाटक और तर्क पुस्तक आदि को निरन्तर पढ़ते रहते हैं ताकि वे अपने व्याख्यानों में और गोष्ठियों में

अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने के लिए काव्य-नाटक और तर्कादि का उपयोग कर सकें। सुना है, यहां तक वे करते हैं कि अपनी प्रतिमा को शीशे में देख कर बोलने का अभ्यास करते हैं। तभी उनको विजिगिषा में सफलता मिलती है। इसी प्रकार मुक्ति चाहने वाले को निरन्तर अपने तात्विक स्वरूप का एकान्त में अभ्यास करना चाहिए।

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा।
स्वर्गादिवांच्छया तद्वच्छ्रद्ध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥११५॥

अर्थ : यथा—जैसे। **स्वर्गादि**—स्वर्ग आदि, ब्रह्मलोक आदि। **वांछया**—कामना से। **जपयागोपासनादि**—जप, यज्ञ, उपासना आदि। **श्रद्धया**—श्रद्धा से। **कुरुते**—करते हैं। **तद्वत्**—उसी प्रकार। **मुमुक्षु**—मुक्ति चाहने वाला। **श्रद्ध्यात्स्वे**—अपने स्वरूप पर श्रद्धा करे।

टिप्पणी : विचार से देखा जाए तो पूर्ण श्रद्धा के बिना कुछ नहीं हो सकता है। लौकिक और पारमार्थिक कोई बात श्रद्धा के बिना सिद्ध नहीं हो सकती है। वैज्ञानिक भी अपनी खोज सिद्धान्त पर श्रद्धा रखकर ही करते हैं। वास्तव में देखा जाए, भगवान का कहना : "यो यत श्रद्धः स एव स" पूर्णतया सिद्ध है। जो स्वर्गादि की वांछा करते हैं, वे जप, यज्ञ, उपासना में स्वर्ग की प्राप्त की श्रद्धा रखते हैं और इसी श्रद्धा से उनको सफलता भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार मुमुक्षु को अपने आत्म स्वरूप पर प्रथम श्रद्धा रखनी पड़ती है, तत्पश्चात् अभ्यास से वह श्रद्धा अनुभव में परिणत होती है। इसी लिए ग्रन्थकार ने जप आदि की उपमा दी है। श्रद्धा और विश्वास में बहुत अन्तर हैं। अप्रामाणिक अन्धविश्वास श्रद्धा का विश्वास कहलाता है जैसे अंग्रेजी में 'फेथ' और चीज है तथा 'बिलीफ' और चीज है।

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत ।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ॥११६॥

अर्थ : यथा—जैसे। **अणिमादिप्रेप्सया**—अणिमा आदि सिद्धियों की इच्छा से। **योगी**—योगी। **महायासेन**—बहुत कठिनता से। **चित्तैकाग्रयं**—चित्त की एकाग्रता को। **साधयेत**—सिद्ध करता है। **एवम्**—इसी प्रकार। **स्वं**—अपने स्वरूप को। **मुमुक्षया**—मुक्ति के लिए। **विविच्यात्**—विचार करे।

टिप्पणी : आधुनिक समय में वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि जीव के मन की शक्ति बड़ी प्रबल है। यह तो न तर्क है, न विश्वास है, अपितु यह विज्ञान है। इसी शक्ति का नाम वैज्ञानिक मिसमैरिजम अथवा हिप्नोंटिज्म देते हैं। वास्तव में यह मन की शक्ति है, जिसमें किसी धर्म या रंग या पुरुष-स्त्री विभाग नहीं है। हमारे पूर्वज योग की सिद्धियों, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि को मन की एकाग्रता से प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध करते थे। यह अष्ट सिद्धियां योगी बड़े अभ्यास से सिद्ध करता है। इसी प्रकार ग्रन्थकार शिक्षा करते हैं कि मुमुक्षु को बड़े आयास से विचार करना उचित है।

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यास पाटवात् ।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥११७॥

अर्थ : यथा—जैसे। **तेषाम्**—उन यज्ञादिक के फल को चाहने वालों को। **अभ्यास पाटवात्**—अभ्यास की चतुरता से। **कौशलानि**—कुशलता। **विवर्धन्ते**—बढ़ जाती है। **तद्वत**—उसी प्रकार। **अस्यापि**—इस मुमुक्षु का भी। **विवेको**—विचार। **अभ्यास्यात्**—अभ्यास से। **विशदायते**—निर्मल हो जाता है।

टिप्पणी : उपरोक्त श्लोकों में ग्रन्थकार ने जो विजिगिषा, स्वर्गादि और चित्तएकाग्रय अभ्यास से कुशल हो जाते हैं, उनका वर्णन किया है। मुक्ति चाहने वाले का भी अभ्यास से विचार निर्मल होता जाता है। अभ्यास की बड़ी महिमा है।

रानी यह सुन कर कि राजा ने मृगया के समय एक मृग को पत्ते खाते और कान को खुजलाते हुए तीर मार कर मुंह, पत्ते और कान के भीतर से तीर निकाला, कहने लगी : "अभ्यास से सब कुछ होता है।" राजा इस पर कुछ नाराज हो गए। रानी ने यह देखकर अपने पिता के यहां जाने का निश्चय किया। वहां जाकर एक सौ सीढ़ियों का चबूतरा बनवाया और नवजात एक सांड को मंगवाया। रानी ने इस सुकुमार सांड को कांधे पर डालकर सौ सीढ़ियों पर चढ़ने का अभ्यास आरम्भ किया। सांड भी बढ़ता गया और अभ्यास भी कुशल होता गया। जब सांड़ बहुत मोटा और डरावना हो गया तो रानी उसको एक टांग से उठा कर ऐसा कांधों पर रखती थी जैसे कोई अपने तौलिये को। और फिर दौड़ते-दौड़ते सौ सीढ़ियों पर चढ़ती थी। जब निमंत्रित कर राजा को यह चमत्कार दिखाया तो राजा ने स्वीकार किया कि अभ्यास से कुछ भी सम्भव हो सकता है। इसीलिए कृष्णने अर्जुन को मन की चंचलता को रोकने के लिए इस प्रकार उपदेश किया है :—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च ग्रह्यते।"

जाग्रत्सप्नसुषुप्त्यादिप्रपंचं यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥११८॥

अर्थ : यत्—जो। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि। (आदि शब्द से मूर्छा समाधि समझना चाहिए)। प्रपंचम्—प्रपंच को। प्रका-

शते—प्रकाश करता है। तद्—वह। ब्रह्माहम—ब्रह्म मैं हूं। इति—ऐसा। ज्ञात्वा—जानकर। सर्व बंधैः—सब बन्धनों से। प्रमुच्यते—छुटकारा पाता है। वेदान्ती जी॥ अगर यह श्लोक समझ

टिप्पणी : इस श्रुति में सांसारिक बन्धनों का छुटकारा पाने की अवधि बतायी है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति को कोई एक ही वस्तु जानती है, जिसको वेदान्त परिभाषा में "वृत्ति अविच्छिन्नचैतन्य" कहते हैं। जब हम यह जान लें, "यह चैतन्य मैं ही हूं" तब सर्व बन्धनों से छुटकारा मिलता है। प्रकाश पद से जानने का अर्थ लेना चाहिए और ज्ञान पद से दृढ़ अनुभव को समझना चाहिए। लोगे तो मुक्त हो जावोगे। आप का अर्थ बिल्कुल गलत है

एक एवात्मा मंतव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥११९॥

अर्थ : जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मूर्छा में। मन्तव्यो—माननीय है। एक एवात्मा—एक ही आत्मा। स्थानत्रयव्यतीतस्य—तीनों अवस्थाओं से व्यतीत का। पुनर्जन्म—फिर से जन्म। न विद्यते—नहीं होता है।

टिप्पणी : तीनों अवस्थाओं को अन्तः करण की वृत्ति द्वारा अनुभव करने वाले आत्मा को फिर से जन्म नहीं होता, अर्थात् तुरीय अवस्था में पहुंच कर मुमुक्षु जन्म-मरण से छूट जाता है। स्थान त्रय व्यतीत जो है, वह तुरीय है।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगञ्च यद्भवेत।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः ॥१२०॥

अर्थ : त्रिषु—तीन। धामसु—अवस्थाओं में (जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति)। यत्—जो। भोग्यं—भोगनीय पदार्थ। भोक्ता—भोग करने वाला।

भोग च—और भोग क्रिया। **यद्भवेत्**—जो कुछ है। **अहं**—वह मैं। **चिन्मात्रो**—चैतन्य मात्र। **सदा शिवः**—सदा कल्याण रूप। **साक्षी**—साक्षी (देखने वाला)। **तेभ्यो**—उन तीन अवस्थाओं से। **विलक्षणः**—विलक्षण हूं।

टिप्पणी : जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति में त्रिपुटी होती है, जिसका निरूपण इस तरह है—जागृत की त्रिपुटी—विश्वनामा जीव भोक्ता, इन्द्रियों द्वारा अन्तःकर्ण को वृत्ति भोग और स्थूल पदार्थ भोग्य इसी तरह स्वप्न की त्रिपुटी—तैजस नामा जीव भोक्ता, अन्तःकरण की वृत्ति भोग और वासनामय पदार्थ भोग्य और सुषुप्ति की त्रिपुटी इस प्रकार है—प्राज्ञनामा जोव भोक्ता, अविद्या वृत्ति भोग और सुषुप्ति आनन्द भोग्य—इन सब का साक्षी या प्रकाश करने वाला या जानने वाला एक ही चैतन्य मात्र, कल्याण रूप मैं हूं, ऐसा ज्ञानी का अनुभव होता है।

वात पित्तश्लेष्मजन्यव्याधय कोटिशस्तनौ।
दुर्गंधित्व कुरूपत्व दाहभंगादयस्तथा ॥१२१॥

अर्थ : **वात**—वात से। **पित्त**—पित्त से। **श्लेष्म**—कफ से। **जन्य**—उपजे हैं। **तनौ**—स्थूल शरीर में। **कोटिशः**—करोड़ों। **व्याधयः**—रोग। **तथा**—और। **दुर्गंधित्व**—दुर्गंध। **कुरूपत्व**—कुरूपता। **दाह**—जलना। **भंगादया**—टूटना इत्यादि।

टिप्पणी : कफ, बात इत्यादि स्थूल शरीरों के रोगों का कारण आयुर्वेदिक चिकित्सा करने वाले बताते हैं—शरीर को और कितने रोग ऐसे हैं जिनसे दुर्गंधता, कुरूपता, जलना, टूटना भी सम्भव है।

काम क्रोधादयः शांतिदात्यांद्या लिंगदेहगाः।
ज्वरा द्वयेऽपि बाधंते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥१२२॥

अर्थ : कामक्रोधादयः—काम क्रोध आदि से। **शांतिदांत्याद्या**—शम, दम आदि से। **लिंगदेहगाः**—सूक्ष्म शरीर में। **ज्वरा**—रोग। **द्वये पि**—दोनों भी। **नरं**—मनुष्य को। **क्रमात**—बारी बारी से। **बाधंते**—कष्ट देते हैं। **प्राप्त्या**—एक की प्राप्ति से। **अप्राप्त्या**—दूसरे की अप्राप्ति से।

टिप्पणी : काम, क्रोध की प्राप्ति से अन्तःकरण जो सूक्ष्म शरीर है, में दुःख होता है। सूक्ष्म शरीर उन्नीस तत्वों का हीता हैं, अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, चित्त, बुद्धि, मन और अहंकार। इसको अन्तः-करण और सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। सम, दम न होने से भी अन्तःकरण में दुःख होता है। इसीलिए आचार्य ने लिखा है कि एक की प्राप्ति से और दूसरे की अप्राप्ति से सूक्ष्म शरीर में बारी-बारी से क्लेश होता है।

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे।
आगामि दुःख बीजं चेत्येतदिंद्रेण दर्शितम् ॥१२३॥

अर्थ : कारणे—कारण शरीर सुषुप्ति में। **विनष्ट इव**—नष्ट के समान। **स्वं परं**—अपने और दूसरे को। **न च वेत्ति**—नहीं भी जानता है। **आगामि**—आने वाले। **दुःखबीजं च**—दुःख का बीज है। **एतत्**—यह। **इन्द्रियेण**—राजा इन्द्र ने छान्दोग्य उपनिषद में। **दर्शितम्**—दिखाया है।

टिप्पणी : जब गाढ़ निद्रा में मनुज्य सुषुप्ति में होता हैं तो अपने मित्र या चोर को नहीं पहचानता है और स्वप्न भी नहीं देखता है। इसको भी ग्रेन्थकार रोग ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त राजा इन्द्र ने शोध किया कि आने वाले दुःखों का बीज भी इसी अवस्था में है। यह वार्ता छान्दोग्य उपनिषद् में आई है। आज-कल के मनो वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध किया है कि "सब कांसस,, मन ही सब दुःखों का मूल है।

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ।।१२४।।

अर्थ : एते ज्वराः—यह रोग। **त्रिषु शरीरेषु**—तीनों शरीरों में। **स्वाभाविकाः**—स्वभाव-सिद्ध। **मताः**—माना है। **तानि ज्वरैं**—इन रोगों के। **वियोगेतु**—वियोग में, न होने में। **शरीराण्येव**—शरीर भी। **नासते**—नहीं रहता है।

टिप्पणी : तीनों शरीरों में रोग दिखा कर ग्रन्थकार निरूपण करते हैं कि जिसने शरीर धारण किया, स्वभाव से ही रोगी बन गया। आज तक न तो भूत में, न तो भविष्य में कोई निरोगी रहा, न रहेगा। जिसने शरीर धारण किया, उसे प्राकृत नियम के अनुसार रोग स्वभाव सिद्ध हैं। छोटे बालक से लेकर बूढ़े तक सब रोगी हैं। जितनी देर मनुष्य खाता-पीता, सोता और मल-मूत्र त्याग करता है, उतनी देर हम उसको निरोगी बताते हैं और जो खाना-पीना छोड़ बिस्तरे पर पड़ गया, उसे बीमार समझते हैं। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जिसने शरीर धारण किया, रोग साथ हो गए। चाहे वह योगी-भोगी, राजा-रङ्क, स्त्री-पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध कोई भी हो, वे शरीर धारी होकर निरोगी कभी भी नहीं हो सकते। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि रोगों का वियोग चाहते हैं तो शरीर भी नहीं रहेगा। जैसे ताना-बाना निकाल देने से कपड़ा भी नहीं रहता है।

अहं मनुष्य इत्यादि व्यवहारो विनाऽप्यमुम ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोएवकल्पते ।।१२५।।

अर्थ : अमुम—इस। **विपर्यासम**—विपरीत भावना के। **विनाऽपि**—बिना भी। **अहं**—मैं। **मनुष्य**—मनुष्य हूं। **इत्यादि**—इसी प्रकार से।

व्यबहारो—व्यवहार। **चिराभ्यस्त**—बहुत काल के अभ्यास के। **वासनत:**—वासना से। **अवकल्पते**—कल्पना किया जाता है।

टिप्पणी : विपर्य अपने शरीर पर आत्मबुद्धि और जगत पर सत्यत्व बुद्धि को कहते हैं। ज्ञानी भी, "मैं मनुष्य हूं" ऐसा व्यवहार करता है। आचार्य ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बिना विपर्य के बहुत देर की वासना से हो सकता है, अर्थात् "मैं शरीर नहीं हूं।" यह जान कर भी पूर्व वासना के बल से शरीर की कल्पना करता है। यह दोष नहीं माना है।

प्रारब्ध कर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येतध्यानसहस्रत: ।।१२६।।

अर्थ : **प्रारब्ध कर्नणि**—प्रारब्ध कर्म के। **क्षीणे**—समाप्त होने पर। **व्यबहारो**—व्यवहार। **निवर्तते**—दूर होता है। **असव**—यह प्रारब्ध कर्म। **कर्माक्षयेतु**—कर्म के न नाश होने बिना। **नैब**—नहीं। **शाम्येत**—शान्त होता है। **ध्यान**—ध्यानसमाधि आदि। **सहस्रत:**—हज़ारों से।

टिप्पणी : यह शरीर प्रारब्ध का पिण्ड है, ऐसा हिन्दू साहित्यकारों ने स्वीकार किया है। इसमें किसी संदेह की संभावना नहीं है। यदि वैज्ञानिक यह नहीं मानते हैं। उसे इस सिद्धान्त को छोड़ा नहीं जा सकता। हां, इतना अवश्य है कि इस प्रारब्ध कर्म को वर्तमान में कोई नहीं जान सकता। यदि आप हजारों ध्यान और समाधि लगा दें तो भी प्रारब्ध कर्म के भोग समाप्त नहीं होते हैं। समाधि से समाधि-काल का सुख तो आता है, परन्तु प्रारब्ध भोग समाप्त नहीं होता। समाधि, सुषुप्ति और मूर्छा में कर्मों का भोग नहीं हो सकता है।

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते।
स्तनंधयानुसारेण वर्तते तत्पिता यत: ।।१२७।।

अर्थ : **बुद्धस्य**—ज्ञानवान का। **वृत्तिर**—व्यवहार। **अविद्वत्**—अज्ञानियों के। **अनुसारेण**—अनुसार। **युज्यते**—युक्त है। **यतः**—जैसे। **स्तनंधया**—बच्चों के। **अनुसारेण**—अनुसार। **तत्पिता**—उनका पिता। **वर्तते**—प्रवर्तन में आता है।

टिप्पणी : ज्ञानवान की बुद्धि परिपक्व होने के कारण अज्ञानियों के साथ अज्ञानी बन कर रहना शोभा देता है, जैसे अज्ञानी व्यवहार करते हैं, वैसे ही ज्ञानी को भी व्यवहार करना चाहिए। छोटे बच्चों के साथ उनका पिता यह समझ कर कि ये बच्चे हैं—व्यवहार करता है। इसी लिए श्री कृष्ण ने गीता में कहा है :—

"न बुद्धि भेदं जनयेत अज्ञानां कर्म संज्ञनाम्।"

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत॥१२८॥

अर्थ : **बालेन**—बालक ने। **स्व-पिता**—अपने पिता को। **अधिक्षिप्त**—गाली दिया हो। **ताडितो वा**—या अनादर किया हो। **तदा**—उस समय पिता। **न क्लिश्नाति**—क्लेश नहीं करता है। **न कुप्यते**—क्रोध भी नहीं करता। **प्रत्युत**—अपितु। **बालम्**—बालक को। **लालयेत**—लाड़ प्यार करता है।

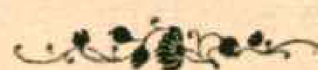
टिप्पणी : यह सर्व-साधारणतः देखा गया है, जब छोटा बालक अपने पिता को दुर्वाक्य कहता है अथवा मुंह पर चपेट मारता है, न तो पिता बुरा मानता है और न तो क्रोध करता है, अपितु बालक को गोद में उठा कर चूमता है और प्यार करता हैं। इसी प्रकार ज्ञानी का व्यवहार अज्ञानियों के साथ होना चाहिए।

निंदितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञंनं निंदति।
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाऽऽचरेत् ॥१२९॥

अर्थ : निंदितः—अज्ञानियों से निन्दा किया हो। स्तूयमानो वा—अथवा प्रशंसा किया हो। विद्वानज्ञं-न निंदति—ज्ञानी अज्ञानियों की निन्दा नहीं करता। न स्तौति—न उनकी स्तुति करता है। किन्तु—परन्तु। तेषां—उन अज्ञानियों को। यथा—जैसे। बोधः—ज्ञान। स्यात्—हो जाए। तथा—वैसा। आचरेत्—आचरण करे।

टिप्पणी : जगत में प्रत्येक जीव अपनी प्रकृति के अनुसार दूसरे जीव का अनुमान करता है। इसी प्रकार ज्ञानी को कोई चाण्डाल कहते हैं, कोई शूद्र कहते हैं, कोई योगी कहते हैं, परन्तु यह ज्ञानी न किसी का बुरा मानता है, न किसी की स्तुति करता है, अपितु जिस प्रकार समाज का कल्याण हो और सद्बुद्धि प्राप्त हो—वैसा ही आचरण करता है।

॥ इति तृप्तिदीपविवेक प्रकरणम् ॥



अथ कूटस्थ दीप प्रकरणम्

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायंते वृत्तयोऽखिलाः।
सर्वा अपि विलीयंते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ॥१३०॥

अर्थ : विच्छिद्यविच्छिद्य—कट-कट कर। क्रमात्—क्रम से, (एक के बाद दूसरी)। अखिला—सब। वृत्तयो—वृत्तियां। जायंते—उपजती हैं। सर्वा अपि—सब अन्तःकरण की वृत्तियां। सुप्ति—सुषुप्ति। मूर्च्छा—मूर्च्छा। समाधिषु—समाधि में। बिलीयंते—लय होती हैं।

टिप्पणी : बुद्धिमान पुरुष विचार करने से अनुभव कर सकता है कि मन की वृत्तियां कट-कट, एक दूसरी के बाद, उपजती हैं। सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि में यह सब वृत्तियां अविद्या रूप कारण में लय हो जाती हैं। सामान्यतः यह अनुभव नहीं किया जा सकता, जैसे पानी की धारा एक-एक बिन्दु से बनती है, वैसे ही हमारे संकल्प-विकल्प भी एक-एक वृत्ति से बनते हैं।

संधयो अखिल वृत्तीनाम भावञ्चावभासिताः।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥१३१॥

अर्थ : **अखिल**—सब। **वृत्तीनाम**—वृत्तियों की। **संधयः**—बीच की जगह (Space)। **अभावस्य**--और अभाव में भी। **यन**—जिससे। **निर्विकारेण**—निर्विकार होकर। **अवभासिताः**—भासमान होता है, जाना जाता हैं। **असौ**—यह। **कूटस्थ**—चैतन्य कूटस्य है। **इति च**—ऐसा। **उच्चते**—कहा जाता है।

टिप्पणी : फूल की पात्तियों का सूई से गजरा बनाते समय यह प्रतीत नहीं होता है कि एक पत्ती का दूसरी पत्ती में कुछ संधि है। वास्तव में जब सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो पिरोते समय एक पत्ती और दूसरी पत्ती में संधि अवश्य होती है, यद्यपि दिखायी नहीं देती है। इसी प्रकार मन की वृत्तियों की भी संधि होती हैं। मन की वृत्ति ही तो जानने वाली है, इस संधि को जो वृत्तियों के बीच में है और अभाव का भी जो प्रकाशक है, वही कूटस्थ चैतन्य है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार से अनुभूति में आ सकता है। इन्हीं वृत्तियों की संधि को बारंबार अनुभव करना "ब्रह्म-विचार" कहते हैं। आरंभ में ऐसा विचार करने में कठिनता प्रतीत होती है, किन्तु अभ्यास-द्वारा सरसता प्रतीत होने लगती है और अभ्यासी इसी रस में गोते लगाना श्रेष्ठ

समझता है। और अन्त में इसी आनन्द-रस में लीन होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिंबस्तथाविधिः।
बिंबलक्षणहीनः सन् बिंबवद्भासते स हि ॥१३२॥

अर्थ : ईषत्—किंचित। भासनम्—प्रकाश को। आभासः—आभास कहते हैं। तथा विधिः—वैसे ही। प्रतिबिंबः—प्रतिबिंब है। बिंबलक्षण—बिंब लक्षणों के। हीनः—बिना। सन्—होकर। बिंबवत—बिंब जैसे। भासतेसहि—वह प्रतीत होता है।

टिप्पणी : वेदान्त शास्त्रों में बिंब-प्रतिबिंब वाद का एक अपना स्थान है। बिंब का उपाधि में प्रतिबिंब लगना बिंबप्रतिबिंबवाद कहते हैं। चैतन्य ब्रह्म का माया और अविद्या रूपी उपाधियों में प्रतिबिंब लगना ईश्वर और जीव को सिद्ध करता है। प्रतिबिंब में बिंब लक्षण न होने पर भी बिंब जैसा भासता है। माया उपाधि में प्रतिबिंबित होकर चैतन्य ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और अविद्या उपाधि में प्रतिबिंबित होकर यही चैतन्य ब्रह्म जीव कहलाता है। वेदान्त की परिभाषा में ईश्वर को माया उपाधि करके शुद्ध सत और अविद्या उपाधि में जीव को मलिन सत कहते हैं। दोनों, ईश्वर और जीव चैतन्य ब्रह्म जैसा प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में चैतन्य ब्रह्म के लक्षणों के बिना हैं।

ससंगत्वविकाराभ्यां बिंबलक्षण हीनता।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिंबवद्भासनं विदुः ॥१६३॥

अर्थ : ससंगत्व—संग से युक्त। विकाराभ्यां—और बिकारी। बिंब-लक्षण—बिंब लक्षणों की। हीनता—हीनता है। एतस्य—इस प्रतिबिंब

की। स्फूर्तिरूपत्वं—प्रकाश रूपता। बिंबवत भसनं—बिंब जैसा भास। बिदुः—विद्वान जानते हैं।

टिप्पणी : वास्तव में यह ऊपर के श्लोक की व्याख्या है, अर्थात् बिंब-रूप चैतन्य ब्रह्म निर्विकारी और असंग है। जब कि प्रतिबिंब ससंग और विकारी है। परन्तु प्रकाशता बिंब जैसे है। यही विचार ईश्वर और जीव में करना उचित है।

असत्यालंबनत्वेन सत्यः सर्वजडस्यतु।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥१३४॥

आनन्द रूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना।
सर्व संबंधवत्वेन सम्पूर्णः शिव संज्ञितः ॥१३५॥

अर्थ : असत्यः—असत पदार्थों का। **आलंबनत्वेन**—आश्रय होने के कारण। **सत्यः**—सत्य है। **सर्व जडस्यतु**—सब जड़ पदार्थों का। **साधकत्वेन**—साधक होने से। **चिद्रूपः**—चैतन्य रूप है। **सदा**—नित्य। **प्रेमास्पदत्वतः**—प्रेम का आश्रय होने से। **आनन्द रूपः**—आनन्द रूप है। **सर्वार्थ**—सब पदार्थों के। **साधकत्वेन**—सिद्ध करने के। **हेतुना**—हेतु होने के कारण। **सर्वसंबंधवत्वेन**—सबके साथ संबंध होने से। **संपूर्णः**—संपूर्ण। **शिव संज्ञितः**—शिव नाम वाला है।

टिप्पणी : शब्दार्थ में श्लोक का अर्थ प्रगट है। इस वाक्य से प्रतीत होता है कि शैव और वेदान्त में कोई भेद नहीं है। दोनों में अद्वैत कहा है। परिभाषा में भेद है, परन्तु सिद्धान्त में नहीं। दोनों साधन हैं एक ही साध्य के लिए, जैसे भगवान श्री कृष्ण ने श्री भगवद्गीता में कहा है :—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

और दूसरा शास्त्र पद भी है :—

"यम शैवा समुपासते शिवयते ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।......"

असमन्निद्रऽपि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ।
महामाया सृजत्ये तावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥१३६॥

अर्थ : अस्मत्—हमारी । **निद्रा**—नींद । **अपि**—भी । **जीवेशौ**—जीव और ईश्वर को । **चेतनौ**—दोनों चेतनों को । **स्वप्नगौ**—स्वप्न में । **सृजेत**—उत्पादन करता है । **महामाया**—महामाया । **सृजत्ये**—उपजती है । **एतौ**—इन जीव-ईश्वर को । **यति**—ऐसा । **ते**—तुमको । **अत्र**—इसमें । **किम्**—क्यों । **आश्चर्य**—आश्चर्य है ।

टिप्पणी : पूर्व पक्षी के यह कहने पर कि झूठी स्वप्न माया कैसे जीव और ईश्वर को उत्पन्न करती है ? ग्रन्थकार कहते हैं हमारा झूठा स्वप्न भी जीव ईश्वर को उत्पन्न करता है तो महामाया ने यदि जीव ईश्वर को उत्पन्न किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हम स्वप्न में समस्त सृष्टि को उत्पन्न करते हैं और उसमें व्यवहार करते हैं। यद्यपि जागृत दृष्टि से हम बिस्तर पर सोए होते हैं। इसी लिए वेदान्त परिभाषा में तीन अवस्थाएं मानी हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक ।

व्यावहारिक दशा जागृत होती है और प्रातिभासिक स्वप्न होती है। पारमार्थिक, स्वप्न, जागृत और सुषुप्ति के बिना होती है ।

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्थ कञ्चन ।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥१३७॥

अर्थ : **कूटस्थ**—कूटस्थ। **सर्वदा**—नित्य। **एव असंग**—असंग ही है। **तेन**—इस लिए। **अस्ये**—इस कूटस्थ को। **न भवत्य अतिशय**—अधिकता नहीं होती। **कञ्चय**—कोई भी, **एवम्**—इसी प्रकार। **मनस्येवं**—मन में। **विचार्यताम्**—विचार करो।

टिप्पणी : कूटस्थ जो साक्षी है उसको जन्म मरण रूपी व्यवहार से कोई अधिकता नहीं होती, कारण यह कि यह कूटस्थ असंग है। यही मन में सदा विचार करना चाहिए यह एक अभ्यास है और बड़ा लाभदायी है। तत्पश्चात् "मैं कूटस्थ हूं।" ऐसी भावना करके अनुभव करना चाहिए।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥१३८॥

अर्थ : **न निरोधः**—नाश नहीं है। **न चोत्पत्तिर**—उत्पत्ति भी नहीं हैं। **न बद्धो**—बंध नहीं है। **न च साधकः**—नहीं साधक है। **न मुमुक्षु**—न मुमुक्षु है। **नवै मुक्तः**—नहीं मुक्त है। **इति एषा**—इस प्रकार यह। **परमार्थता**—सिद्धान्त है, सच्चाई है।

टिप्पणी : माया रूपी जल में ही हाथ-पैर मार कर मुक्ति रूप तट पर पहुंच कर यह अनुभव होता है कि फिर न कोई उत्पत्ति थी, नहीं उसका नाश था, नहीं कोई बन्ध था, न कोई मुक्त हुआ, न कोई मुमुक्षु था, न कोई मुक्ति थी। वास्तव में यहीं अद्वैत का सिद्धान्त है। बन्ध और मुक्ति सब माया में हैं। जब माया छूट गयी, जैसा स्वप्न छूटता है—तो फिर कोई वस्तु नहीं रहती। बिना अद्वैत के कुछ भी नहीं रहता। यह सिद्धान्त है।

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्य भाषितम् ॥१३९॥

अर्थ : **पुंसां**—पुरुषों को जीवों को। **या-या**—जिस-जिस प्रकार। **प्रत्यगात्मनि**—अन्तरात्मा का। **व्युत्पत्तिः**—ज्ञान। **भवेत्**—हो सके। **सा सैव**—वही-वही। **प्रक्रियेह**—प्रक्रिया। **हि**—इस प्रसंग में। **साध्वी स्यात्**—अच्छी है। **यति**—ऐसा है। **आचार्य भाषितम्**—सुरेश्वराचार्य का कहना है।

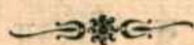
टिप्पणी : वेदान्त में बहुत से वाद हैं, अर्थात् प्रक्रियाएं हैं। अद्वैत वाद, एक जीव वाद, बहु जीव वाद, दृष्टि-सृष्टि वाद, बिंब-प्रतिबिंब वाद, अद्या रूप अपवाद वाद इत्यादि। आचार्य सुरेश्वराचार्य पूज्य पाद स्वामी शंकराचार्य के प्रधान शिष्य थे। उन्होंने व्यक्त किया हैं कि जिस-जिस प्रक्रिया से साधक को सिद्धि प्राप्त हो वही उसके लिए अच्छी है। भिन्न-भिन्न प्रकृति होने के कारण साधक को भिन्न-भिन्न वाद अच्छे लगते हैं और साध्य की प्राप्ति होती है।

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्येष यथा तथा।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥१४०॥

अर्थ : **मायामेघो**—मायारूपी बादल। **जगन्नीरं**—जगत रूपी जल। **वर्षत्य**—वर्षा करें। **एष**—यह जगत। **यथा तथा**—जैसा-तैसा। **चिदाकाशस्य**—चैतन्य रूप आकाश को। **नो हनि**—कुछ हानि नहीं। **न वा लाभ**—नहीं कोई लाभ है। **इति स्थितिः**—ऐसा सिद्धान्त है।

टिप्पणी : माया से जगत उत्पन्न होता है, जैसे बादल से वर्षा। चैतन्य रूप आकाश में इस वर्षा से न कोई हानि है न लाभ हैं। आकाश में कोई विकार नहीं होता—चाहें वर्षा कैसी भी हो।

॥ इति कूटस्थ दीप प्रकरणम् ॥



अथ ध्यानदीप प्रकरणम्

वेदांतेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखंडैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥१४१॥

अर्थ : अखंडैकरसात्मकम्—अखंड एक रस स्वरूप। **ब्रह्मतत्त्वम**—ब्रह्म तत्त्व। **वेदान्तेभ्यो**—वेदान्त शास्त्रों द्वारा। **परोक्षम्**—परोक्ष भाव से। **अवगम्य**—जानकर। **एतत्**—यह ब्रह्म। **अहं अस्मे इति**—मैं हूं ऐसा। **उपासते**—उपासना करते हैं।

टिप्पणी : जिन चित्त शुद्ध अन्तः करण वाले साधकों को अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता उनके लिए निर्गुण उपासना या अहंगर उपासना का विधान है। ऐसे साधकों ने वेदान्त शास्त्रों का अध्ययन करने से यह दृढ़तया परोक्षता से जान लिया हैं कि इस संसार का अधिष्ठान अखंड एक रस सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म है। परोक्षता से जान कर इसको, मैं ही वह ब्रह्म हूं। ऐसी उपासना करते हैं। इस निर्गुण उपासना को 'कर्तुंतन्निर' अर्थात् यह उपासना कर्ता के अधीन है। जव उपासक इस उपासना को करे तभी तक "अहं ब्रह्मास्मि" भाव रहता है। शनैः शनैः यह भाव अपरोक्षिता में परिणत होता है—हमारे स्थूल शरीर का जन्म से माता-पिता ने कोई नाम रखा है तत्पश्चात् यह इतना आरूढ़ होता है कि हमारे नाम के प्रथम अक्षर के कहने से हम चौकन्ने हो जाते हैं। ऐसा ही भाव "अहं ब्रह्मास्मि" की उपासना का है।

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण बिना नृणाम्।
आप्तोपदेश मात्रेण न संभवति कुत्रचित् ॥१४२॥

अर्थ : नृणाम—मनुष्यों को। **विचारेण बिना**—विचार बिना। **ब्रह्म-साक्षात्कृति**—ब्रह्मसाक्षात्कार। **तु**—निश्चय करके। **एवम्**—इसी प्रकार।

आप्तोपदेशमात्रेण—केवल गुरुपदेश से। न संभवति—संभव नहीं। कुत्रचित्—कहीं भी।

टिप्पणी : ग्रन्थकार उपदेश करते हैं कि आत्म विचार के बिना चैतन्य ब्रह्म का साक्षात्कार, अर्थात् अनुभव नहीं हो सकता। गुरु उपदेश मात्र से ज्ञान नहीं उपज सकता। गुरु उपदेश अन्य स्थलों में अवश्य होना चाहिए, परन्तु ब्रह्म-ज्ञान में आत्म-विचार ही मुख्य है। जब रस्सी पर सर्प का भ्रम हो गया तो गुरु-मंत्र-द्वारा सर्प दूर नहीं होता जब तक रस्सी अपरोक्षता से न देख पाएं।

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत्।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥१४३॥

अर्थ : अश्रद्धा—श्रद्धा का न होना। परोक्षज्ञानम्—परोक्ष ज्ञान का। प्रतिबध्नाति—प्रतिबन्धक है। नेतरत्—दूसरा कोई नहीं। अविचारो—विचार का न होना। अपरोक्षस्य—अपरोक्ष। ज्ञानस्य—ज्ञान का। प्रतिबन्धकः—प्रति बन्धक हैं।

टिप्पणी : भौगोलिक ज्ञान से हमको दूसरे देशों का परोक्ष ज्ञान श्रद्धा से ही होता है। यदि हम भौगोलिक ज्ञान पर श्रद्धा न रक्खें तो हमको अन्य देशों का परोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार श्रद्धा का न होना परोक्ष ब्रह्म-ज्ञान का प्रतिबन्धक है। और विचार का न होना अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक, उसी प्रकार हो सकता हैं, जिस प्रकार वैज्ञानिकों का (H^2O) एच टू ओ' पानी का फारमूला बिना विचार के समझ में नहीं आता।

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत्।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥१४४॥

अर्थ : विचार्याऽपि—विचार भी किया हो। आपरोक्ष्येण—अपरोक्षता से। ब्रह्मात्मानं—ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य। न वेत्ति चेत्—यदि न जाना हो। आपरोक्ष्यण—अपरोक्ष होने के। अवसानत्वात्—सीमा तक। भूयो-भूयो—फिर-फिर से। विचारयेत्—विचार करो।

टिप्पणी : विचार करने से बहुत देर तक अन्तरात्मा और ब्रह्म का ऐक्य समझ में नहीं आता। समझ न आने के बहुत से प्रतिबन्ध कारण होते हैं, जो ग्रन्थकार आगे निरूपण करेंगे। ये प्रतिबन्ध पुनः-पुनः विचार करने से निवृत्त हो सकते हैं। इसी लिए ग्रन्थकार उपदेश करते हैं कि जब तक अनुभव में न आए, पुनः पुनः विचार करते रहना चाहिए। यह पुनः पुनः विचार करना उपासना का कार्य भी करता है।

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत्।
जन्मांतरे लभेतैव प्रतिबंधक्षये सति ॥१४५॥

अर्थ : चेत्—यदि। विचारयन्न—विचार करते रहें। आमरणं—मरण काल तक। आत्मानं—अपने स्वरूप को। नैव लभेत—नहीं पाते। जन्मान्तरे—दूसरे जन्म में। लभेतैव—अवश्य पावोगे। प्रतिबन्ध—प्रतिबन्ध। क्षये सति—नाश हुआ हो।

टिप्पणी : पूर्व पक्षी पूछते हैं कि यदि मरण काल तक विचार करते रहें और फिर भी अनुभव में नहीं आता तो क्या होगा? इस पर आचार्य उपदेश करते हैं कि अगले जन्म में अवश्य प्राप्त करोगे, जब प्रतिबन्धों का नाश होगा।

दूसरा जन्म होगा या न होगा—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। इसके पक्ष में और विरोध में आज तक बहुत से विचार कहे गए। ऐसे पाठकों को जो जन्मान्तर नहीं मानते, उनसे प्रार्थना है कि पुनः पुनः विचार करने में हानि

ही क्या है। प्रत्युत् विचार करने में मन समाहित रहता है। जब हम किसी पर्वत की यात्रा पर जाते हैं तो जल साथ लेना उचित ही है। यदि वहां पर जल हुआ तो साथ लिए हुए जल को फेंक देंगे। इसी प्रकार यदि दूसरा जन्म हुआ तो विचार काम आएगा और नहीं हुआ तो कोई हानि भी नहीं होगी।

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः।
दिनांतरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान ॥१४६॥

अर्थ : बहुवारम—बहुत बार। अधीतेऽपि—पढ़ा हुआ भी हो। तदा—उस समय। नायाति—नहीं याद आता है। चेत्पुनः—यदि फिर। दिनांतरे—दूसरे दिन। अनधीत्यैव—न पढ़ा हुआ भी हो। पूर्वाधीतं—पहले पड़ा हुआ। पुमान—पुरुष को। स्मरेत—याद आता है।

टिप्पणी : यह सर्व अनुभव सिद्ध है कि बहुत बार पढ़ा हुआ हो तो भी किसी किसी अवसर पर याद नहीं आता और दूसरे अवसर पर न भी पढ़ा हुआ हो मनुष्य पहले पढ़े को स्मरण करता है और स्मृति आ भी जाती है। इसी प्रकार यदि वर्तमान जन्म में अभ्यास किया हो और अनुभव में नहीं आता, दूसरे जन्म मैं स्वतः अनुभव-सिद्ध होता है। हिन्दू-संस्कृति में इसे पूर्वजन्म का अभ्यास मानते हैं, जैसे दो व्यक्ति हर प्रकार से समान बुद्धि-कौशल्य प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसमें हम यही अनुमान कर सकते हैं कि दोनों की बुद्धि-विकास समान नहीं रहा है। पूर्व जन्म का संचित अभ्यास पृथक-पृथक रहा है, इसी लिए वर्तमान बुद्धि-विकास के प्रमाण में अन्तर स्पष्ट है।

कालेनपरिपच्यंते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥१४७॥

अर्थ : यथा—जैसे। कृषिगर्भादयो—खेती और गर्भ। कालेन—समय से। परिपच्यंते—परिपाक को प्राप्त होते हैं। तद्वत्—उसी प्रकार। आत्म-विचारोऽपि—आत्म विचार भी। शनैः—धीरे-धीरे। कालेन—समय आने पर। पच्यते—परिपाक को प्राप्त होता है।

टिप्पणी : यहां प्रस्तुत श्लोक में भाव स्पष्ट हैं, जैसे धीरे-धीरे खेती और गर्भ समय आने पर परिपाक को प्राप्त होते हैं, वैसे ही आत्म-विचार भी धीरे-धीरे समय आने पर परिपक्वता को प्राप्त होते हैं, अर्थात् अनुभव से परिपुष्ट होते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने भी गीता में कहा है :—

"बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान माम प्रपद्यते।"

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।
हिरण्यनिधिदृष्टांतादिदमेव हि दर्शितम् ।।१४८।।

अर्थ : वेदवेदार्थो—वेद और वेदों के अर्थ। अधीतऽपि—पढ़ा हुआ भी हो। अतएव—इस प्रतिबन्ध के कारण। न मुच्यते—नहीं मुक्त होता है। हिरण्यनिधि—सोने के खज़ाने के। दृष्टान्तात—दृष्टान्त से। इदमएव हि—यही। दर्शितम्—दिखाया है।

टिप्पणी : वेद और वेदों के अर्थ, अर्थात् समस्त शास्त्रों का अध्ययन भी किया हो तो भी ज्ञान नहीं होता, जैसे सोने के भंडार के ऊपर से चलता-फिरता भी हो, भूमि के प्रतिबन्ध से इस सोने के भंडार का कोई लाभ नहीं होता है अथवा किसी पशु के ऊपर वेद-पुराण लदे हों तो भी वह पशु का पशु ही रहता है, वेद-वेदार्थों का ज्ञान उसको नहीं होता।

यही परिस्थिति आधुनिक समय में कई विद्वानों की है, जो कुछ विद्या-ध्ययन करते हैं, उसका दुर्पयोग ही होता है। जितनी अधिक विद्या सामाजिक,

आर्थिक, राजनीतिक आदि हो, उतनी ही अधिक हिंसा, वैर, अधर्म और अन्य प्रकार के दोष आ जाते हैं। क्या हम नहीं जानते हैं कि पश्चिमी प्रदेशों में अधिक से अधिक विद्या और धन होने के कारण अधिक से अधिक हिंसा, निर्दयता, वैर फलस्वरूप विषाद उनको अधिक से अधिक होता हैं। कारण यह है कि इन विद्वानों ने विद्या का अर्थ ही नहीं समझा है। विद्या के मर्म को समझना एक बात हैं और उस विद्या का दैनिक व्यवहार में सदोपयोग करना और बात है।

यही दशा आधुनिक कुछ पारमार्थिक विद्वानों की है। इसको हम व्यापार समझते हैं। कोई कोयले बेचता है, कोई सोना बेचता है और कोई पारमार्थिक शास्त्रों का विक्रय करता है। स्वात्मा नन्द पद-प्रवेश के बिना यह सब वाणिज्य ही है। हां, इतना अन्तर अवश्य है कि कोयले बेचने से शास्त्र बेचना अच्छा ही है। परन्तु इससे ज्ञान नहीं हो सकता और मुक्ति भी नहीं हो सकती।

प्रतिबन्धो वर्त्तमानों विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामांद्यं कुतर्कञ्च विपर्यय दुराग्रहः ॥१४६॥

अर्थ : विषयासक्तिलक्षणः—विषयों में आसक्ति का लक्षण। प्रज्ञा-मांद्यं—बुद्धि की मन्दता। कुतर्कश्च—कुतर्क भी। विपर्यय—विपरीत भावना। दुराग्रहः—दुष्टों की तरह हठ करना। वर्त्तमानो - वर्तमान। प्रतिबन्धो—प्रति बन्ध है।

टिप्पणी : प्रतिबन्ध भूत, भविष्य और वर्तमान काल के होते हैं। यहां आचार्य वर्तमान प्रतिबन्ध का निरूपण करते हैं, जैसे विषयों में आसक्ति, बुद्धि की मंदता, तर्क करते समय कुतर्क का अवलम्बन लेना, देह पर आत्म बुद्धि और जगत पर सत्यत्व बुद्धि रूपी विपर्य और बात को समझ कर भी

दुष्टों की तरह हठ करना इत्यादि वर्तमान प्रतिबन्ध हैं। जब तक उपायों से इनका निवारण नहीं किया जाता, तब तक ज्ञान नहीं हो सकता।

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम्।
नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥१५०॥

अर्थ : **अस्मिन**—यह। **प्रतिबन्धे**—वर्तमान प्रतिबन्ध। **शमाद्यैः**—शम, दम आदि : **श्रवणाद्यैश्च**—और श्रवण, मनन, निदिध्यासन से। **तत्र-तत्र**—उस-उस प्रतिबन्ध के। **उचितैः**—उचित। **क्षयम्**—नाश को। **नीते**—पहुंचाए हो। **अतः**—फिर। **स्वस्य**—अपने स्वरूप में। **ब्रह्मत्वं**—ब्रह्म-भाव को। **अश्नुते**—प्राप्त होता हैं।

टिप्पणी : उपरोक्त निरूपित वर्तमान प्रतिबन्धों का नाश शम, दम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार योग के बहिरंग साधनों के अभ्यास से तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन से इन प्रतिबन्धों का निवारण हो सकता है। यह सर्वसिद्ध है, जब तक नियम-धर्म और यम-धर्म का भली प्रकार अभ्याम न किया हो, तब तक ये प्रतिबन्ध नष्ट नहीं होते हैं और अन्तरात्मा तथा ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त नहीं होता है। इसी कारण से पहले गुणों का संपादन करके प्रतिबन्धों को नष्ट करना पड़ता हैं।

ब्रह्मलोकाभिवांछायां सम्यक सत्यां निरुघ्यताम्।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥१५१॥

अर्थ : **ब्रह्मलोकाभिवांछायां**—ब्रह्म-लोक के प्राप्ति की इच्छा। **सम्यक**—पूर्ण। **सत्या**—होंगी। **ताम्**—उससे। **निरुध्य**—निरोध करके। **यः विचार-एत**—जो अधिकारी विचार करेगा। **आत्मानं**—आत्मा को। **न तु साक्षात्करोति**—वह निश्चय ही अनुभव रूप साक्षात्कार नहीं कर सकता। **अयम्**—

यह कामना सहित अधिकारी।

टिप्पणी : देखा जाय कामना ही जीव है। मुक्ति भी एक कामना है। यहां यह रहस्य है कि गौड़ रूप कामना यदि हो तो कोई हानि नहीं। इसको कामनाभास कहते हैं, परन्तु मुख्य रूप से कामना नहीं होनी चाहिए। ग्रन्थ-कार का संकेत मुख्य रूप कामना की ओर है। यदि इस कामना का निरोध करके अधिकारी विचार करेगा तो उसे साक्षात्कार रूपी सफलता होगी। जब ब्रह्मलोक की इच्छा को भी बाधक माना है तब पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा की क्या बात है, अर्थात् मुमुक्षु समस्त मुख्य कामनाओं से मुक्त हो। जल, भिक्षा, वस्त्र आदि की कामना को कामना नहीं कहते। यदि, इनका विस्तार न हो। मुक्ति की कामना मुमुक्षु को अवश्य होनी चाहिए। इसको कामना नहीं कहते।

अत्यंतबुद्धिमांद्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम ।।१५२।।

अर्थ : अत्यंत—अधिक। **बुद्धिमांद्यात्**—बुद्धि की मन्दता। **वा**—अथवा। **सामग्र्या**—गुरु-शास्त्र जैसे सामग्री। **वा अपि**—का भी। **असंभवात**—सभव न होने के कारण। **यो विचारं**—जो विचार को। **न लभते**—प्राप्त नहीं कर सकता। **सोऽनिशम**—वह नित्य। **ब्रह्मोपासीत**—ब्रह्म की उपासना करे।

टिप्पणी : कितने ही मुमुक्षु ऐसे होते हैं जहां गुरु-शास्त्र प्राप्त नहीं होता अथवा उनकी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं होती है कि जो ब्रह्म-विचार के शास्त्र को समझ सकें, परन्तु मुक्ति-काम होते हैं, उनके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि वे उपासना करें और उपासना भी निर्गुण ब्रह्म की करें, अर्थात् न समझ कर भी अहं ब्रह्मास्मि-अहं ब्रह्मास्मि में भावना करें। इस भावना से समय

आने पर उनकी बुद्धि निर्मल हो जाती है तथा गुरु-शास्त्र मिलते हैं।

निर्गुणब्रह्मत्तत्त्वस्य न ह्य पास्तेरसंभवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात ॥१५३॥

अर्थ : निर्गुण—निर्गुण। ब्रह्मत्तत्त्वस्य—ब्रह्मतत्त्व की। **उपास्तेर**—उपासना। नहि असंभव—असंभव नहीं है। अत्र—इस निर्गुण उपासना के प्रसंग में। सगुण—सगुण। **ब्रह्मणी एव**—ब्रह्म की तरह। **प्रत्ययावृत्ति**—ब्रह्माकार वृत्ति के अभ्यास से। संभवात—संभवता से।

टिप्पणी : उपासना की रीति है कि उपास्य देव के अंगों का या गुणों का निरन्तर स्मरण करे। पूर्व पक्षी के कहने पर कि निर्गुण ब्रह्म की कैसे उपासना की जा सकती है ? ग्रन्थकार कहते हैं, सगुण ब्रह्म जैसे प्रत्ययों की आवृत्ति से हो सकता है, वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति के अभ्यास से निर्गुण उपासना में भी हो सकता है, अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि-अहं ब्रह्मास्मि—चिन्तन हो सकता है, भावना हो सकती है।

उपासना-क्रम में दीर्घ काल और निरन्तर आदर बुद्धि से उपासना की जाय तो सफलता होती है। यह नियम वहां पर भी आवश्यक हैं।

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमितिचेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥१५४॥

अर्थ : तत्—वह ब्रह्म। अवाङ्मनसगम्यं—वाणी और मन का विषय न होने के कारण। नो पास्यम्—उपासना करने योग्य नहीं है। **यतिचेत्त**—ऐसा यदि कहोगे। तदा—फिर। अवाङ्मनसगम्यस्य—मन, वाणी के परे का। वेदनं—जानना भी। न च संभवेत—संभव नहीं है।

टिप्पणी : ब्रह्म-तत्त्व मन और वाणी का विषय नहीं है, यह सिद्धान्त

है। इसी को दृष्टि में रख कर पूर्व पक्षी प्रश्न करते हैं कि मन वाणी से जो परे ब्रह्म है उसकी उपासना कैसे की जाय? इस पर आचार्य पूछते हैं कि क्या मन-वाणी से परे ब्रह्म का फिर ज्ञान भी नहीं हो सकता है? हे पूर्व पक्षी यदि ऐसा कहोगे तो ज्ञान, शास्त्र, गुरु सब निष्फल हो जायगा। कारण यह है कि यह सब मन-वाणी से जाने जा सकते हैं।

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥१५५॥

अर्थ : **वागाद्य**—वाणी आदि का। **अगोचराकारं**—अविषय रूप होने से। **यत्येयं**—ऐसा यदि। **वेत्ति**—ज्ञान है। **असौ**—यह परोक्ष ज्ञानी। **वागाद्य**—वाणी आदि। **अगोचराकारं**—अविषय रूप। **इति**—ऐसी। **उपासित**—उपासना। **नो कुतः**—क्यों नहीं हो सकती?

टिप्पणी : सिद्धान्ती को पूर्व पक्षी उत्तर देते हैं कि ज्ञान वाणी और मन का अविषय रूप है—ऐसा ज्ञान हो सकता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान मन बुद्धि से अतीत है। इसी कारण सिद्धान्ती कहते हैं कि मन बुद्धि से परे की उपासना क्यों नहीं हो सकती हैं? यहां रहस्य है कि ज्ञान जानने पर हो सकता है और उपासना मानने मात्र से हो सकती हैं। ज्ञान होकर चाहे हम उस ओर मन रक्खें या न रक्खें कोई विशेषता नहीं है, जैसे वस्त्रों में कंठ की माला खो जाती है। तत्पश्चात् हाथ आने पर यानी जान कर ध्यान हमारा उसी तरफ रहे, कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु उपासना में ऐसा नहीं है वह भावना-ग्राह्य है। जब उधर ध्यान रहेगा, तभी वह है, नहीं तो नहीं।

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छायां न निवर्तयेत्।
स्वोत्पत्तिमात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥१५६॥

अर्थ : विचारात् - विचार से । बोधो जायते—ज्ञान उपजता हैं । अनिच्छायां—इच्छा के अभाव से । न निवर्तएत—यह ज्ञान दूर नहीं होता । स्वोत्पत्तिमात्रात्—अपने उत्पत्ति मात्र से यह ज्ञान । संसारे—संसार का । अखिल—सब । सत्यताम्—सत्य भाव । दहते—जला देता है ।

टिप्पणी : ज्ञान संपूर्णतया जानने को कहते हैं । जब कुछ समस्त प्रकार से जान लिया तो वह इच्छा के अधीन नहीं रहता, अर्थात् चाहे उसकी तरफ आप का ध्यान रहे या न रहे, वह ज्ञेय नष्ट नहीं होता । हिन्दू संस्कृति में भाद्र शुक्ल पक्ष चौथ का चांद नहीं देखते हैं । एक बार देख कर कोई उसके प्रभाव से निवृत्त नहीं होता है । इसी प्रकार जब एक बार ज्ञान उत्पन्न हुआ तो इसके फलस्वरूप संसार की सत्यता भी दूर होती है, अर्थात् यह जगत सब असत्य है ।

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ।
चिंतयेत प्रत्ययैरन्यैरनं तरितवृत्तिभिः ॥१५७॥

अर्थ : श्रद्धालुर--श्रद्धावान । अविचारयन—विचार न करने वाला । आप्तोपदेशं—गुरु के उपदेश को । विश्वस्य—विश्वास करके । चिंतयेत—उपासना करे । अन्यैर—और अनात्मा । प्रत्यै—ज्ञानों से । अनंतरित—न टूटी हुई । वृत्तिभिः—वृत्तियों से ।

टिप्पणी : जिस मुमुक्षु को किसी कारण वश विचार नहीं हो सकता उसको चाहिए कि गुरु-उपदेश के अनुसार चित्त-वृत्ति का एकाग्र्य का अभ्यास करता रहे और अनात्म वृत्तियों से रहित अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति का निरन्तर अभ्यास करे ।

मोह आवरण से छुपा हुआ है. मोह

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।
तावद्विचिंत्य पञ्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥१५८॥

अर्थ : यावत्—जब तक । **चिंत्यस्वरूपत्व**—उपासना के ब्रह्म का । **अभिमानः**—अभिमान । **स्वस्य**—अपने में । **जायते**—उत्पन्न हो । **तावत्**—तब तक । **विचिंत्य**—उपासना करे । **पञ्चाच**—ब्रह्म का अभिमान उत्पन्न हो कर पीछे भी । **तथैव**—उसी प्रकार । **आमृति**—मरणपर्यन्त । **धारयेत्**—धारणा करे ।

टिप्पणी : निर्गुण उपासक को जब तक उपास्य ब्रह्म का अपने में अभिमान हो जाय तब तक उपासना करते रहें । ब्रह्म का अपने में अभिमान होकर पीछे भी मरण पर्यन्त ध्यान करता रहे । परन्तु ज्ञान में ऐसी बात नहीं है । ज्ञान हो जाने पर ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं है । कारण यह है कि उपासना ध्यान करने से होती है । शास्त्रों का कहना है कि ऐसे उपासक को ब्रह्म-लोक में जाकर ब्रह्मा जी स्वयं उपदेश करते हैं और साधक मुक्त होता है ।

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोधीते स्वप्नोधिवासतः ।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥१५९॥

अर्थ : अप्रमत्तो—प्रमाद के बिना । **वेदाध्यायी**—वेद का पढ़ने वाला । **हि**—निश्चय ही । **स्वप्ने**—स्वप्न में । **अधीते**—पढ़ता है । **अधिवासतः**—दृढ़ वासना से । **जपितः**—जप करने वाला । **तु**—भी । **जपत्येव**—जप करता है दृढ़ वासना से । **तथा**—वैसे ही । **ध्याता**—ध्यान करने वाला । **अपि**—भी । **वासयेत्**—दृढ़ वासना करे ।

टिप्पणी : यह सर्व सम्मत है, जो दृढ़ वासना से जागृत में करता है,

आवरण उठाव तो आत्म ज्ञान मिल जायगा.

वह अवश्य स्वप्न में देखता है। प्रमाद के बिना जागृत में जो वेद का अध्ययन करता है अथवा जप करता हैं, वह स्वप्न में भी दृढ़ वासना से वेद पढ़ता है अथवा जप करता है। इसी प्रकार "अहं-ब्रह्मास्मि" ध्यान करने वाला स्वप्न में भी "अहं-ब्रह्मास्मि" ध्यान देखता है। जैसे हमारे कल्पित नाम दृढ़ होने के कारण हम स्वप्न में भी इसका उपयोग करते हैं।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरंतर्येण भावयन्।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ॥१६०॥

अर्थ : विरोधि—विरोध करने वाली। प्रत्ययं—वृत्तियों को। त्यक्त्वा—छोड़ कर। नैरंतर्येण—नित्य। भावयन—भावना करे। वासनावेशात्—वासना के बल से। स्वप्नादव—स्वप्न आदि में। अपि—भी। भावनाम्—इस भावना को। लभते—पाता है।

टिप्पणी : अनात्म वृत्तियों को छोड़ कर निररन्तर जो अहं ब्रह्मास्मि भावना करता है, वह स्वप्न आदि में भी अहं ब्रह्मास्मि रूप भावना को पाता है।

भुंजानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम्।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ॥१६१॥

अर्थ : भुंजानोऽपि—भोगता भी हो। निजारब्धं—अपने प्रारब्ध फल को। आस्था—विश्वास की। अतिशयतो—अधिकता से। अनिशम्—नित्य। ध्यातुं—ध्यान करने को। शक्तो—समर्थ है। न संदेहो—इसमें कोई संदेह नहीं है। यथा—जैसा। विषय व्यसनी—विषय व्यसनी होता है।

टिप्पणी : देखा गया है कि किसी विषय का जो व्यसनी हो, उसको

खाते-पीते भी उसी विषय का ध्यान रहता है, जैसे कोई गायक खाते-पीते भी राग और ताल में रमा रहता है मन प्रतिक्षरण विशेष, सामान्य रूप से काम करता है, जैसे मार्ग पर मोटर चलाने वाला मार्ग को भी देखता है और बात-चीत भी करता है। जब पूर्णतया कोई विशेषता से काम करे उस समय एक ही काम होता है, जैसे सूई में धागा पिरोने के समय और कुछ चिन्तन नहीं हो सकत,। इसी प्रकार सामान्य विशेष भेद से विषयी अपने विषय की ओर चिन्तन करता है और प्रारब्ध का फल भी भोगता है। रागी गाते समय स्वर-ताल की तरफ ध्यान रख कर एकही काम कर सकता है। इसी प्रकार हम भी दैनिक व्यवहार सामान्य-विशेष रूप भेद से करते रहते हैं।

मायामयः प्रपंचोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक्।
इति बोधे विरोधः को लौकिक व्यवहारिणः ॥१६२॥

अर्थ : माया मयः—झूठा। **अयम्**—यह। **प्रपंचो**—संसार है। **चैतन्य रूपधृक**—चैतन्य स्वरूप को धारण करने वाला। **आत्मा**—आत्मा है। **इति बोधे**—इस प्रकार के ज्ञान को। **लौकिक**—सांसारिक। **व्यवहारिणः**—व्यवहार करने वाले को। **विरोधः**—विरोध। **को**—कैसा है।

टिप्पणी : पूर्व पक्षी के आक्षेप करने पर आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी संसार को झूठा समझता है और अपने स्वरूप आत्मा को चैतन्य रूप समझ कर सत्य मानता है। इस कारण से ज्ञानी का व्यवहार भी होता है। इस में क्या विरोध है, अर्थात् कोई विरोध नहीं। रंग-मंच पर आकर नाटक में यथा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का नाटकीय स्तर पर सामान्यतः रूपक नहीं बन तसका ?

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैवतम् ।
वक्तुं मंतु तथा ध्यातुं शक्नत्येव हि तत्त्ववित् ॥१६३॥

अर्थ : सकृत्—एक बार । **आत्मानं**—आत्मा को । **निश्चत्य**—निश्चय किया हो । **यदापेक्षा**—जब इच्छा हो । **तदैव तम्**—उसी समय उस आत्मा को । **वक्तुं**—बोलने को । **मंतुं**—मानने को । **तथा**—और । **ध्यातुं**—ध्यान करने को । **हि**—निश्चय करके । **शक्नोत्येव**—समर्थ ही है । **तत्त्ववित्**—तत्त्वज्ञानी ।

टिप्पणी : जब कोई वस्तु अपरोक्षता से निश्चय की गई हो तो निश्चय-कर्ता किसी भी परिस्थिति में उस पदार्थ पर बोल सकता है और ध्यान कर सकता है, कारण यह कि उस वस्तु को उसने माना है और जाना है। जैसे प्रयास करके हम गंगोत्री-यमनोत्री का तीर्थ कर आए हों तो हम सर्व प्रकार से उसका निरूपण कर सकते हैं। मान सकते हैं और ध्यान भी कर सकते हैं। इसी प्रकार जब साधक ने एक बार आत्म-तत्व को जान लिया तो व्याख्या कर सकता है, ध्यान कर सकता है तथा मान भी लेता है। श्री कृष्ण भगवान ने भी कहा है :—

"ज्ञानिन: तत्त्व-दर्शिन "

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिता: ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चय: ॥१६४॥

अर्थ : मायया—माया से । **देहे**—देह में । **वर्णाश्रमादयो**—वर्णाश्रम आदि । **परिकल्पिता:**—कल्पना की है । **नात्मनो**—आत्मा में नहीं । **बोधरूपस्य**—जो ज्ञान रूप है । **इत्येवं**—ऐसा ही । **तस्य**—उस ज्ञानवान का । **विनिश्चय:**—निश्चय है ।

टिप्पणी : जब विशाल दृष्टि से देखें तो वर्णाश्रम, संप्रदाय, रंग-भेद आदि । शरीर के धर्म हैं। सूक्ष्म शरीर में ये बातें नहीं हैं और आत्मा की तो ही क्या है। ज्ञानवान वर्णाश्रमादिकों को कल्पना समझता है और आत्मा में इन सब बातों का प्रवेश नहीं होता। ऐसा ही ज्ञानवान का निश्चय है। वास्तव में देखा जाय—ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय के घर में उत्पन्न होने से कल्पना की जाती है। इसी कारण से श्री कृष्ण भगवान ने गीता में वर्णों का निरूपण इस प्रकार किया है :—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥

प्रस्तुत श्लोक में स्वभाव पर ही अधिक बल दिया गया है।

समाधिमथकर्माणि मा करोतुकरोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१६५॥

अर्थ : समाधिम—समाधि। **अथ**—या। **कर्माणि**—कर्म। **करोतु**—करे। **मा करोतु वा**—या न करे। **हृदयेन**—मन से। **सर्वास्तो**—सब आस्थाएं। **अस्तः**—दूर हुई हों। **मुक्त एव**—मुक्त ही है। **उत्तमाशयः**—वह उत्तम मन वाला।

टिप्पणी : साध्य के प्राप्त होने पर साधन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सकाम कर्म और निष्काम कर्म तथा समाधियां ज्ञान उपलब्धि के साधन हैं। जब मन से सब आस्थाएं निवृत्त हुई हों तो समाधि या कर्म करे या न करे, कोई विशेषता नहीं है। शरीर मात्र को स्वस्थ रखने के लिए जो कर्म हैं वह तो करने ही होंगे। यहां शरीर पद से स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर दोनों का अर्थ समझना चाहिए। यहां भी भूमिका—भेद से शरीर का परिक्षण करना योग्य है।

इसी कारण से भगवान ने कहा है—"शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्लिशम्" यह तो पदार्थाभाविनी सातवीं कक्षा के प्रति नहीं कहा गया हैं।

नैषकर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१६६॥

अर्थ : यस्य—जिसका। **निर्वासनं**—वासना-रहित। **मनः**—मन है। **नैष्कर्म्येण**—कर्म के त्याग से। **न तस्यार्थः**—उसको कुछ प्रयोजन नहीं है। **तस्यार्थों**—उसको प्रयोजन। **न कर्मभिःऽस्ति**—कर्मों से कुछ नहीं है। **न समाधान जप्याभ्यां**—नहीं समाधान या जप-अभ्यास से।

टिप्पणी : वासना ही कर्म करने की प्रेरक होती है। जिसका निर्वासन मन हो गया उसको कर्म करने या न करने से कोई लाभ या हानि नहीं है। इसी प्रकार समाधान या जप-अभ्यास का कोई लाभ या हानि नहीं है, उसका मन वासना-रहित होकर साध्य को प्राप्त कर गया है।

आत्मासंगस्ततोऽन्यत्स्यादिंद्रजालं हि मायिकम्।
इत्यचंचलनिर्णीति कुतो मनसि वासना ॥१६७॥

अर्थ : आत्माअसंगः—आत्मा संग-रहित है। **ततोऽन्यत्**—उस आत्मा से अन्य पदार्थ। **मायिकम्**—माया से। **इन्द्रजालं हि**—निश्चय इन्द्र जाल। **स्यात्**—है। **इति**—ऐसा। **अचंचल निर्णीति**—अच्छी प्रकार निर्णय किया हो। **कुतो**—कैसे। **मनसि**—मन में। **वासना**—वासना हो सकती है।

टिप्पणी : जब हम चल-चित्र देखते हैं, तब उन सब पदार्थों को झूठा मान कर, अर्थात् दृष्टि से सृष्टि जान कर झूठा समझते हैं। इस लिए वासना भी जागृत नहीं होती हैं—स्वप्न पदार्थ देखने से जागृत में कोई वासना

जागृत नहीं होती है। ज्ञानवान को आत्मा असंग अनुभव हुआ होता है और उसे अन्य पदार्थ बाज़ीगर का खेल प्रतीत होने से कोई वासना जागृत नहीं होती। केवल तमाशा सा मालूम होता है।

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽति प्रसंजनम् ।
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥१६८॥

अर्थ : **विधि**—विधि के। **अभावात्**—अभाव से। **बालस्य**—बालक को। **अति प्रसंजनम्**—शास्त्र-उलंघन-दोष। **न दृश्यते**—नहीं दिखायी देता हैं। **अस्य**—इस विद्वान को। **कुतो**—कैसे। **अति प्रसंगो**—शास्त्रउलंघन-दोष। **स्यात्**—होगा। **समे**—समान। **विध्याभावे**—विधि का अभाव। **सति**—है।

टिप्पणी : कोई कीट चलता हो, बालक उस पर लीला से पांव रखता है और कीट मर जाता है। शास्त्रों के अनुसार इस बालक को कोई दोष नहीं है। दोष भावना से उत्पन्न होता हे। इसी प्रकार विद्वान के मन में बालकवत् कोई दुःख देने की भावना नहीं होती है, इस कारण से विद्वान को कोई दोष नहीं होता है। शास्त्रों के अनुसार अवतारों से जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको सुख-दुःख भोगने वालों का कर्म मानते हैं। अर्थात् अवतारों के शरीर लोगों के कर्मों से बनते हैं। अवतारों का कोई अपना प्रारब्ध कर्म नहीं होता।

न किंचिद्वेत्ति वालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयो ॥१६९॥

अर्थ : **चेत्**—यदि कहोगे। **बालः**—बालक। **न किंचित्**—कुछ भी नहीं। **वेत्ति**—जानता है। **तत्त्ववित्**—तत्त्व ज्ञानी। **सर्व**—सब। **वेत्त्येव**—

जानता है। सर्वे—सब। विधयः—विधियां। अल्पज्ञस्यैव—थोड़े से जानने वाले को ही। स्युर—होती हैं। नान्ययोर्द्वयो—दूसरे दोनों को नहीं।

टिप्पणी : सिद्धान्ती के यह कहने पर कि बालक को कोई पाप नहीं होता है, पूर्व पक्षी आक्षेप करता है कि बालक कुछ भी नहीं जानता है। सिद्धान्ती उत्तर में बोलता है, कि तत्त्व ज्ञानी सब कुछ जानता है, अर्थात् बालक तम में पड़ा है और तत्त्व ज्ञानी अति प्रकाश में। जहां यह सब प्रपंच झूठा प्रतीत होता है। इस कारण से विधि-निषेध अर्थ ज्ञानी को ही होता है, अर्थात् बालक और विद्वान को नहीं होता।

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥१७०॥

अर्थ : पामराणां—विधि के न मानने वालों के। व्यवहृतेर—व्यवहार से। परं—उत्तम है। कर्माद्य—कर्मों आदि का। अनुष्ठति—अनुष्ठान करना। ततोऽपि—उससे भी। सगुणोपास्तिर—सगुण की उपासना करना। निर्गुणोपासनाततः—उससे भी निर्गुण की उपासना करना।

टिप्पणी : आचार्य कर्म और उपासना आदि की श्रेष्ठता बताते हैं। पामर, जिनको विधि-निषेध का कोई बन्धन नहीं होता, उनके व्यवहार से कर्मों का करना श्रेष्ठ माना है और कर्मों से भी अधिक श्रेष्ठ सगुण की उपासना हैं। सर्व श्रेष्ठ निर्गुण की उपासना कही हैं।

यावद्विज्ञान सामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्द्धते।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१७१॥

अर्थ : यावत्—जहां तक। विज्ञान—ज्ञान की। सामीप्यं—निकटता है। तावत्—तहां तक। श्रेष्टम्—उत्तमता। विवर्द्धते—बढ़ती हैं। निर्गुणो-

पासनं—निर्गुण की उपासना से। शनैः—धीरे-धीरे। साक्षात्—सीधा। ब्रह्मज्ञानायते—ब्रह्म ज्ञान आता है।

टिप्पणी : राजा के निकट जो कर्मचारी होता है, वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। इसी प्रकार ऊपर के कर्मों में से ब्रह्म ज्ञान के निकटतम होते हैं, वे उतने ही श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसी कारण से कर्म और सगुण उपासना से निर्गुणोंपासना को आपेक्षक अन्तरंग साधन माना है निर्गुणो-पासन से सीधा ब्रह्म ज्ञान उपजता है।

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१७२॥

अर्थ : **निर्गुणोपासनं**—निर्गुण की उपासना। **पक्वं**—परिपाक को आई हो। **ततः**—फिर। **शनैः**—धीरे-धीरे। **समाधि**—स विकल्प समाधि। **स्यात**—सिद्ध होती है। **यः**—जो। **निरोधाख्यः**—निर्विकल्प नाम वाली। **समाधि**—समाधि। **सोऽनायासेन**—यह कष्ट के बिना। **लभ्यते**—प्राप्त होती है।

टिप्पणी : निर्गुण उपासना जब परिपाक को प्राप्त होती है तो धीरे-धीरे सविकल्प समाधि आ जाती है। जहां त्रिपुटी का भी भास रहता है। तत्पश्चात निर्विकल्प समाधि, अर्थात् त्रिपुटी के बिना सिद्ध होती है और समाधि-कर्त्ता ध्येय मात्र ही बन जाता है।

निरोधलाभे पुंसोऽतरसंगं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेय तत्त्वधीः ॥१७३॥

अर्थ : **निरोधलाभे**—निर्विकल्प समाधि के लाभ से। **पुंसोंऽतर**—पुरुष के अन्दर। **असंगं**—असंग। **वस्तु**—वस्तु। **शिष्यते**—शेष रहती है।

अस्मिन्—इस निर्विकल्प समाधि के प्रसंग में। पुनः-पुनः—फिर-फिर से। वासिते—दृढ़ अभ्यास से। वाक्यात—महा वाक्य से। तत्त्वधीः—ह्यब्र ज्ञान। जायते—उत्पन्न होता है।

टिप्पणी : निर्विकल्प समाधि, जहां समाधि-कर्त्ता केवल गेय-रूप रहता है, उसको बार-बार अभ्यास करने से साधक का अन्तः करण शुद्ध और एकाग्र होता है। यद्यपि साधक को समाधि-लाभ हुआ भी हो, महावाक्य के बिना ज्ञान नहीं होता। वेदान्त शास्त्र में "वाक्यातजायेततत्त्वधीः" माना हैं। सुना है, कितने समाधि लाभ-संपन्न साधकों को "तत्त्वमसि" महा वाक्य से ज्ञान प्राप्त हुआ है।

निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैक पूर्णता।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहंत्यविवादतः ॥१७४॥

अर्थ : निर्विकारा—निर्विकार भाव। असंगः—असंग भाव। नित्या—नित्य भाव। स्व प्रकाश—स्वप्रकाश भाव। ऐकः—ऐक्य भाव। पुर्णता—पूर्ण भाव। शास्त्रोक्ता—शास्त्र में जो कहा है। बुद्धौ—बुद्धि में। अविवादतः—विवाद के बिना। झटिति—जल्दी-जल्दी। आरोहंत्य—चढ़ जाता है, जम जाता है।

टिप्पणी : समाधि लाभ सहित साधक को शास्त्रों में कहे ब्रह्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप का शीघ्रता से निश्चय होता है। ब्रह्म के स्वरूप, निर्विकार, असंग, नित्य, स्वप्रकाश, अद्वैत, पूर्ण आदि हैं।

यहां पर भिन्न-भिन्न स्वरूप होने के कारण पाठक के मन में "अद्वैत" पर संदेह नहीं होना चाहिए। इन भिन्न-भिन्न शब्दों का लक्ष्यार्थ एकही है। जैसे, एक दीपक के इर्द-गिर्द बहुत से रंग के शीशे लगे रहते हैं, किन्तु दीपक एक ही है।

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्वधीर्नहि ।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१७५॥

अर्थ : बहु—अधिक । **व्याकुल**—चंचल । **चित्तानां**—अन्तःकरण वालों को । **विचारात्**—विचार से । **तत्त्वधीर्नहि**—ज्ञान बुद्धि नहीं होती । **ततः**—इस कारण से । **तेषां**—उन अधिकारियों को । **योगो**—योगसाधन । **मुख्यः**—प्रधान हैं । **तेन**—उस योगसाधन से । **धीदर्पः**—बुद्धि की चंचलता । **नश्यति**—नाश होती है ।

टिप्पणी : ब्रह्म विचार के लिए तीक्ष्ण बुद्धि और ऐकाग्रय की आवश्यकता है । चंचल चित्त वालों से यह विचार नहीं हो सकता । इस कारण से ग्रन्थकार विधान करते हैं, कि उनको योगसाधनों से चंचलता दूर करना उपयोगी है । योग जोड़ने को कहते हैं । जीवात्मा और परमात्मा को जिससे जोड़ा जाय, उसको योग कहते हैं ।

योग एक मार्ग हैं, जिस पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न नाम पड़े हैं, परन्तु मार्ग एक ही है । इस मार्ग पर प्रथम श्रेणी को हठ-योग कहते हैं । तत्पश्चात् कर्म-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग और राज-योग हैं ।

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१७६॥

अर्थ : यस्य—जिस उपासक की । **उपासनं**—उपासना । **या**—इसी जन्म में । **नापि**—नहीं भी । **पक्वं**—परिपाक में आई हो । **मरणे**—मरण काल पर । **परत्र सः**—दूसरे जन्म में । **ब्रह्मलोके वा**—या ब्रह्म लोक में । **तत्त्वं विज्ञाय**—ब्रह्म तत्त्व को जानकर । **मुच्यते**—मुक्त होता है ।

टिप्पणी : इस श्लोक का उत्तर श्री कृष्ण चन्द्र ने गीता, अ० ६, श्लोक ४०-४५ तक स्पष्ट किया है।

पाठक गीता खोल कर इसे देख सकते हैं। जिस उपासक की उपासना इस जन्म में पूरण परिपक्व नहीं होती, उसको या तो मरण काल पर या दूसरे जन्म में अथवा उत्तम अधिकारी को ब्रह्म-लोक में तत्व का ज्ञान होता हैं और मुक्त होते हैं।

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुष मीक्षते ॥१७७॥

अर्थ : **यः**—जो अधिकारी। **त्रिमात्रेण**—तीन मात्रा वाले ओंकार की **उपासते**—उपासना करता है। **स**—वह। **ब्रह्म लोके**—ब्रह्म लोक में। **नीयते**—जाता है। **सएतस्मात्**—वह इस। **जीव घनात्**—हिरण्य गर्भ से। **परं पुरुषं ईक्षते**—श्रेष्ठ परमात्मा को देखता है।

टिप्पणी : इस शैव प्रश्नोपनिषद् की श्रुति का अर्थ पदार्थ में स्पष्ट है। ओंकार को उपासना को निगु ण उपासना माना गया है, जिसका विस्तार मात्रा और फल-समेत माण्डोक्य उपनिषद् में निर्णय किया गया हैं। यहां पर विस्तार के भय से हम नहीं निरूपण कर सकते हैं। जो जिज्ञासु पाठक इसके विस्तार को जानना चाहें, वे कृपया माण्डोक्य उपनिषद् में देखें। यह बारह शंत्रों का उपनिषद् है।

साक्षात्कर्तु मशक्तोऽपि चिंतयेन्मामशंकितः ।
कालेनानुभवारूढ़ो भवेयं फलितो ध्रु वम् ॥१७८॥

अर्थ : **साक्षात्**—साक्षात्कार। **कर्तु**—करने के लिए। **अशक्तोऽपि**—यदि असमर्थ हों। **चिंतयेत्**—उपासना करो। **अशंकितः**—शंका के बिना।

माम्—मुझ परमेश्वर की। **कालेन**—समय पर। **ध्रुवम्**—निश्चय करके। **अनुभवारूढ़ो**—अनुभव में आरूढ़। **फलितो**—फल के साथ। **भवेयं**—हो जाऊंगा।

टिप्पणी : यदि साक्षात्कार नहीं प्राप्त होता, अर्थात् जीव-ब्रह्म का ऐक्य अनुभव में नहीं आ सकता तो निर्गुणोपासना करते रहना। समय आने पर मैं, परमेश्वर अनुभव में फल-सहित आरूढ़ हो सकता हूं, इसमें लोई संदेह नहीं है। यह पद साधक के उत्साह के लिए कहा गया है।

यथाऽगाधनिर्धेलब्धौ नोपायः खननं विना।
मल्लाभेपि तथा स्वात्मचिंतां मुक्त्वानचापरः ॥१७६॥

अर्थ : यथा—जैसे। **खननं विना**—खोदने के बिना। **अगाधनिधिर**—गहरे खजाने के। **लब्धौ**—पाने के लिए। **नोपायः**—दूसरा कोई उपाय नहीं है। **तथा**—वैसे ही। **मतलाभेपि**—मुझ परमेश्वर के पाने के लिए। **स्वात्मचिंतां**—अपने स्वरूप की उपासना को। **मुक्त्वा**—छोड़ कर। **न चापरः**—दूसरा कोई उपाय नहीं है।

टिप्पणी : पृथ्वी के गर्भ में क्या-क्या अगाध वस्तुएं छिपी हुई हैं, वैज्ञानियों ने बहुत कुछ ज्ञात किया है, जैसे कोयला, तांबा, सोना आदि हैं। परन्तु इनके प्राप्त करने में बहुत कुछ परिश्रम यंत्रों के साथ करना पड़ता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी गहरे खजाने को पाने के लिए गुरु-वाक्य के अनुसार गहरी साधना करनी पड़ती है। इस दृष्टान्त को देकर ग्रन्थकार समझाते हैं कि आत्म चिंतन रूपी उपाय के बिना परमेश्वर को नहीं पाया जा सकता है।

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।
खात्वां मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१८०॥

अर्थ : **बुद्धि**—बुद्धि रूपी । **कुद्दालकात्**—कुदाल से । **देहोपलम**—देह रूपी पत्थर । **अपाकृत्य**—दूर करके । **पुनः**—तत्पश्चात् । **मनोभुवं**—मन की पृथ्वी को । **खात्वा**—खोद कर । **भूयो**—पुनः । **निधिपुमान**—मुझ परमेश्वर रूपी । **गृह्णीयातमाम्**—खजाने को पुरुष ग्रहण करे ।

टिप्पणी : यहां मन, बुद्धि और शरीर, का उदाहरण दे कर इनको उपयोग करने को कहा है । बुद्धि रूपी कुदाल से शरीर रूपी पत्थर को हटा कर मन रूपी पृथ्वी के नीचे परमेश्वर रूपी खजाने की खोंज करे । जब तक साधक रूपी खोज-कर्ता को शरीर पर आत्म-बुद्धि रूपी पत्थर न हटे, तब तक मन रूपी पृथ्वी खोदी नहीं जा सकती है । मन त्रिगुणात्मक है । परमेश्वर का स्वरूप सतोगुण वृत्ति में ही दिखाई देता है । अन्य रजोगुण, तमोगुण वृत्तियों में नहीं पाया जा सकता । यह नियम है कि एक गुण दूसरे गुणों से गौड़ रूप से स्थित रहते हैं । इसी प्रकार जब निर्मल सतोगुण रह जाता है, तब परमात्मा का अनुभव हो सकता है ।

अनभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चित्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१८१॥

अर्थ : **अनभूतरे**—अनुभव का । **अभावेऽपि**—अभाव भी यदि है । **ब्रह्मास्मी**—अहं ब्रह्मास्मि । **इतिएवम्**—ऐसी । **चित्यताम्**—उपासना करे । यदि **ध्यानात्**—ध्यान से । **असतऽपि**—झूठा भी । **प्राप्यते**—प्राप्त होता है ।

नित्य प्राप्त—नित्य प्राप्त। ब्रह्म—ब्रह्म। किं पुनः—फिर क्यों नहीं होगा ?

टिप्पणी : सुना गया है, कि कितने सगुण उपासकों को उपास्य देव का प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं। कितनों के उपास्य देव मूंछों वाले होते हैं, उनको वैसा ही प्रत्यक्ष दर्शन होता है। वास्तव में वह सब कल्पित है। ध्यान से सत्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं, जब कल्पित पदार्थ की ध्यान से संभवता होती है, तो नित्य ओत-प्रोत ब्रह्म जो सत्य वस्तु है, क्यों प्राप्त नहीं होगा ?

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानद्दिनेदिने।
पश्यन्नपि न चेद्धयायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥१८२॥

अर्थ : ध्यानात्—ध्यान से। अनात्म बुद्धि—अनात्म बुद्धि की। शैथिल्यं—शिथिलता। फलम्—फल। दिने-दिने—प्रति दिन। पश्यन्नपि—देखता भी है। न चेद्धयायेत्—यदि ध्यान नहीं करता है। अस्मातऽपरो—इससे दूसरा। को पशु—कौन पशु है। वद—बोलो (हे पूर्व पक्षी)।

टिप्पणी : भारतीय संस्कृति में प्राचीन लोगों के मन का खिंचाव प्रति दिन संध्या-वंदना आदिक से कम होता था। इसी कारण से प्राचीन समय में बहुत हद तक जीव दीर्घायु और स्वस्थ रहते थे। इस संध्या-वंदनादिक से जो कुछ अदृष्ट फल होता था, उस पर हम विवाद नहीं करना चाहते हैं, परन्तु दृष्ट फल करामलवत् साक्षात होता था, इस विषय में कोई विवाद नहीं है। इसी प्रकार आचार्य पूर्व पक्षी को संबोधन करते हैं—यदि यह दृष्ट फल देख कर कोई ध्यान नहीं करे, तो उसके अतिरिक्त और कौन पशु हो सकता है ?

मन की शान्ति जो उपासना से सिद्ध होती है, इसके इतने विराट परिणाम होते हैं कि मनो वैज्ञानिकों ने भी इसको सराहा है। इस उपासना से मन की न्यून चेतनता जागृत होकर अपना प्रभाव स्पष्टता से प्रगट करती है। मनो वैज्ञानिकों ने इस उपासना को कितने ही रोगों का उपाय बताया है, परन्तु खेद है, आधुनिक समय में जब हम विदेशी अनुकरण करना अपना महत्व समझते हैं। फल स्वरूप हम उपासना को, चाहे किसी प्रकार की हो या संप्रदाय की हो, भूल गए हैं।

॥ इति ध्यान दीप प्रकरणम् ॥



अथ नाटक दीप प्रकरणम्

परमात्माऽद्वयानंदपूर्णः पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१८३॥

अर्थ : परमात्मा—परमात्मा जो। **अद्वयानन्दः**—अद्वैत और आनन्द रूप है। **पूर्णः**—और पूर्ण है। **पूर्वं**—सृष्टि से पहले। **स्वमायया**—अपनी माया शक्ति से। **स्वयमेव**—आप ही। **जगद्भूत्वा**—जगत बन कर। **जीव रूपतः**—जीव रूप से। **प्राविशत**—प्रवेश कर गया।

टिप्पणी : यह वेद-अनुसार भाव है। अर्थात् जड़ जगत भी परमात्मा ही है और जीव जगत भी परमात्मा ही है। इस जगत की सृष्टि के बहुत से प्रकार माने गए हैं, उनमें एक यह है कि जो परमात्मा अद्वैत रूप है, अनन्द

रूप है और पूर्ण रूप है, वही अपनी मायो शक्ति से जड़-जंगम रूप बन कर सृष्टि-काल में जीव रूप से प्रवेश कर गया। यह कहां तक निर्विवाद है, हम कह नहीं सकते, परन्तु जगत का कोई विधान मानने में यह भी एक विधान है। इस वाक्य से अन्य शैव आदिक मतों की भी पुष्टि होती है, अर्थात् यह जड़ रूप जगत भी परमात्मा है और जीव भी परमात्मा ही है। जड़-चेतन का विभाग वेदान्त के अन्य स्थलों में किया है। यहां पर विस्तार के भय से और पुनरोक्ति के भय से निरूपण करना हम बुद्धिमत्ता नहीं समझते हैं।

विष्णवाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भंजति मर्त्यताम् ॥१८४॥

अर्थ : विण्वादि—विष्णु आदि। **उत्तम**—श्रेष्ठ। **देहेषु**—शरीरों में। **प्रविष्टो**—प्रवेश करके। **देवता भवत्**—देवता हो गया। **मर्त्यादि**—मनुष्य आदि। **अधम देहेषु**—निकृष्ट शरीरों में। **स्थितो**—ठहरा हुआ। **मर्त्यताम**—मर्त्य भाव को। **भजति**—भोगता है।

टिप्पणी : प्रस्तुत श्लोक का संबन्ध ऊपर के श्लोक के साथ है। जन-जनार्दन रूपी विष्णु आदि देवताओं के श्रेंश्ठ शरीरों में यह परमात्मा देवता बन गया। जीव-जन्तु रूपी निकृष्ट शरीरों में प्रवेश करके मर्त्य भाव भोगता हुआ जीव-जन्तु में यही परमात्मा प्रवेश करके जीव बन गया। वास्तव में एक ही परमात्मा शरीर की उपाधि के भेद से दो रूप धारण कर गया।

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥१८५॥

अर्थ : अनेक जन्म—बहुत जन्मों के। **भजनात्**—भजन करने के बाद।

स्व विचारं—अपने स्वरूप का विचार। विकीर्षति—करने की इच्छा करता है। विचारेण—विचार से। मयायां—माया का। विनष्टायां—नाश हुआ हो। स्वयम्—तो अपना आप। शिष्यते—पीछे रह जाता है।

टिप्पणी : भद्र ग्रन्थकार कहते हैं कि अपने स्वरूप का विचार बहुत जन्मों के उपासना, तप आदि रूपी भजन से आता है। इसी कारण से हम देखते हैं, समस्त जीवों की इस विचार की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। यदि उनको और भी साधन उपलब्ध हो तो पूर्व जन्म के भजन के बिना इस विचार की तरफ आकृष्ट नहीं होते हैं। जब अपने स्वरूप का विचार पूर्ण होता है, तब मोह-माया स्वयम् नष्ट हो जाती है। शेष पश्चात् स्व-स्वरूप ही रहता है। उसके उपलब्धि के लिए और कोई यत्न नहीं करना पड़ता है। जब मोह रूपी बादल हट जाते हैं तो चन्द्र रूपी शीतल प्रकाश वाला स्वरूप अपने आप प्रगट होता है।

अद्वयानंदरूपस्य सद्वयत्वं च दु:खिता।
बन्ध: प्रोक्त: स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥१८६॥

अर्थ : अद्वयानंदरूपस्य—अद्वैत और आनन्द रूप को। सद्वयत्वं—द्वैत भाव। दु:खिता च—और दु:खिता। बंध: प्रोक्त:—बन्ध कहा है। स्वरूपेण—स्वरूप में। स्थितिर—स्थित रहने को। मुक्तिर—मुक्ति। इति—ऐसा। ईर्यते—कहते हैं।

टिप्पणी : बन्ध और मुक्ति के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं, अद्वैत और आनन्द रूप में द्वैत और दु:खिता बन्ध कहते हैं और अपना स्वरूप जो अद्वैत और आनन्द रूप है में मन की वृत्ति लगाकर स्थित रहने को मुक्ति कहते हैं। वास्तव में मन ही बन्ध और मुक्ति का कारण है।

अविचारकृतो बंधो विचारेण निवर्तते।
तस्मज्जीवपरात्मानौ सर्व देव विचारयेत् ॥१८७॥

अर्थ : अविचोरकृतो—अविचार ने किया है। बन्धो—बन्ध। विचारेण—विचार से। निवर्तते—दूर होता है। तस्मात्—इस कारण से। जीवपरात्मानौ—जीव और परमात्मा का। सर्वदैव—सदा ही। विचारयेत—विचार करे।

टिप्पणी : अविचार से ही बन्ध प्रतीत होता है, अतः आचार्य महोदय कहते हैं, सदा ही विचार करो। विचार करने योग्य वस्तु जीव और परमात्मा है। जीव और परमात्मा को अलग-अलग मानने से बन्ध प्रतीत होता है। जब इन दोनों का बिचार से ऐक्य किया जाय तो सफलता होती है। अन्य और वस्तुओं की विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अहमित्यभिमंता यः कर्ताऽसौतस्य साधनम्।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोस्थिते ॥१८८॥

अर्थ : अहमित्य—मैं ऐसा। अभिमंतायः—जो जानने वाला है। असौ—यही। कर्ता—कर्ता रूप जीव है। तस्य—उस जीव कर्ता का। साधनम्—साधन। मनः—मन है। तस्य—उस मन की ? क्रिया—कार्य। अन्तर्बहिर्वृत्ती—अन्तर्बाह्यवृत्ति। क्रमोस्थिते—क्रम से उठती है।

टिप्पणी : अभिमान ही जीव है जब तक "अहं-अहं" वृत्ति रहती है, तब-तब जीव-भाव रहता है। इस अहं कर्ता रूप जीव का साधन मन है। संकल्प विकल्प रूप मन होने के कारण कभी मन की वृत्ति आन्तरिक विषयों का अनुभव करती है, जैसे सुख-दुःख और कभी बाह्य विषयों का अनुभव

(1) स्वतन्त्र स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतसि शिवः —
(2) तथा योगात्मा स्फुरति सर्वं जगदिदं

करती है, जैसे घट पटादिक। ये मन की वृत्तियां क्रम से उठती हैं, अर्थात् जब आन्तरिक विषय वृत्तियां उठती हैं, उस समय बाहर के विषयों की तरफ वृत्ति नहीं जाती हैं परन्तु अहं-अहं, अर्थात् मैं मैं हर वृत्ति के साथ होता है। जब इस "अहं" का अनुभव वृत्ति द्वारा करना होता है तो ये वृत्ति ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी बन जाती है और यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्ति होती है। इस अहं वृत्ति का समाधि में लय हो जाता है। व्यावहारिक दशा में अहं वृत्ति ही सब कुछ है।

निरावरण विचार करने वाले वृत्ति-ज्ञान को ही ब्रह्म-ज्ञान मानते हैं। ज्ञान भी एक वृत्ति है।

अंतर्मुखाऽमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत्।
बहिर्मुखेदमित्येषा वाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥१८६॥

अर्थ : अन्तर्मुखा—अन्तर्मुख वृत्ति। अहंइतियेषा—"अहं" ऐसे जो। वृत्तिः—वृत्तियां हैं। कर्तारम्—कर्ता जीव को। उल्लिखेत—विषय करती हैं। बहिर्मुखेदम्—बहिर्मुख "यह"। ईति येषा—ऐसी जो वृत्ति हैं। बाह्यम्—बासर के। वस्तु—वस्तु। "इदम्"—यह करके। उल्लिखेत्—विषय करती हैं।

टिप्पणी : जब वृत्ति अहमाकार हो जाती है, अर्भात् अहं का अनुभव करती है, इसको सूक्ष्म और अन्तर्वृत्ति कहते हैं। यह साधक स्वयं अनुभव कर सकता है। जब यही मन की वृत्ति "इदम" रूप हो जाती हैं तो बहिर्मुख और स्थूल वृत्ति हो जानी है। इससे परे भी एक अवस्था है, जिसको स्वयम् कहते हैं। यह इदम, अहम् और स्वयम् सूक्ष्म विचारवान को ही समझ में आता है। अहं और इदम् वृत्तियों को त्याग करके स्वयं को साक्षात्कार कहते हैं।

इदमो ये विशेषाः स्युर्गंधरूपरसादयः ।

असांकर्येण तान् भिद्याद् घ्राणादींद्रियपंचकम् ॥१६०॥

अर्थ : **गंधरूपरसादय**—गंध, रूप, रस आदि । **ईदमो**—'यह' । **ये**—जो । **विशेषाः**—भेद । **स्युर**—होता है । **घ्राणादि**—घ्राणादि । **इन्द्रिय-पंचकम्**—पांचों ज्ञानेंद्रिय । **तान्**—उन विषयों को । **असांकर्येण**—भिन्न-भिन्न । **भिद्यात्**—जानता है ।

टिप्पणी : 'इदम' पद से सब जानने योग्य पदार्थ का उल्लेख है । जो ये भेद भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, यह भेद पांच ज्ञानेन्द्रियों से होते हैं, अर्थात् गंध रूप रस आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय भिन्न-भिन्त अनुभव करते हैं । इसी से 'इदम' पद का भेद प्रतीत होता है । वास्तव में भेद नहीं है ।

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि ।

स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥१६१॥

अर्थ : **कर्तारंच**—कर्ता जीव और । **क्रियां**—कर्म । **तद्वत्**—उसी प्रकार । **व्यावृत्ति**—भिन्न-भिन्न । **विषयानपि**—विषयों को भी । **या**—जो । **एक-यत्नेन**—एक यत्न से । **स्फोरयेत्**—प्रकाश करता है । **असौ**—वह । **अत्र**—इस प्रसंग में । **चिद्वपु**—चैतन्य स्वरूप वाला । **साक्ष्य**—साक्षी है ।

टिप्पणी : कर्ता, कर्म और करण इस त्रिपुटी को एक रस हो कर साक्षी चैतन्य रूप प्रकाश करता है । यदि यह साक्षी न हो तो कर्ता, कर्म और करण अपना-अपना कर्म नहीं कर सकते हैं । चैतन्य रूपता इन सब को कूटस्थ रूप साक्षी से मिलती है । जैसे बिजली के प्रकाश से सब भिन्न-भिन्न कर्म हो सकते हैं और बिजली के प्रकाश के बिना अंधेरे में कुछ नहीं हो सकता है । प्रकाशिका बिजली को कोई विकार नहीं होता है, यद्यपि उसके प्रकाश में

काम करने से समस्त व्यवहार विकारी होता है।

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थ दीपवत् ॥१६२॥

अर्थ : **ईक्षे**—देखता हूं। **शृणोमि**—सुनता हूं। **जिघ्रामि**—सूंघता हूं। **स्वादयामि**—रस का स्वाद लेता हूं। **स्पर्शयामि**—त्वचा से स्पर्श करता हूं। **अहम्**—मैं। **इति**—इस प्रकार आदि। **भासयते**—ज्ञान करता हूं। **सर्वं**—सब। **नृत्यशालास्थ**—नृत्य शाला में स्थित। **दीपवत्**—दीपक के समान।

टिप्पणी : जिस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक में बिजली की उपमा-द्वारा कहा गया है, उसी प्रकार देखता हूं, सुनता हूं, सूंघता हूं, रस का स्वाद लेता हूं, त्वचा से स्पर्श करता हूं—यह सब व्यवहार नृत्य-शाला के दीपक की तरह साक्षी रूप से प्रकाश करता हूँ, जो अगले श्लोक में स्पष्ट होगा।

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥१६३॥

अर्थ : **दीपः**—दीपक। **प्रभुं**—स्वामी राजा को। **सभ्यांश्च**—और देखने वालों को। **नर्तकीम्**—नृत्य करने वाली को। **अविशेषेण**—किसी विशेषता के बिना। **दीपयेत्**—प्रकाश करता है। **तद्**—उस सभा के। **अभावेऽपि**—अभाव को भी। **दीप्यते**—प्रकाश करता है।

टिप्पणी : नृत्य शाला में दीपक किसी विशेषता के विना राजा, सभासद और नर्तकी को समान रूप से प्रकाश देता है। राजा के स्वामी होने के कारण वह अधिक प्रकाश नहीं करता और अन्य सभासदों को कम भी नहीं। तथा जब सभा समाप्त होती है तो उसके अभाव को भी वैसा ही प्रकाश

देता है, जैसा सभा के समय प्रकाश करता था। इसी प्रकार कूटस्थ चैतन्य अहं-इदम् को और उनके अभाव को प्रकाश करता है।

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥१६४॥

अर्थ : **साक्षी**—साक्षी रूप दीपक। **अहंकारं**—अहंकार रूपी राजा को। **धियं**—बुद्धि रूप नर्तकी को। **विषयानपि**—विषय रूप दर्शकों को भी। **भासयेत्**—प्रकाश करता है। **अहंकारादि**—अहंकार आदि। **अभावेऽपि**—के अभाव में। **पूर्ववत्**—पहले के समान। **स्वयं भात्येव**—स्वयं प्रकाशमान रहता है।

टिप्पणी : प्रस्तुत उपमा से पाठकों को समझने में सुगमता होगी। इस में अहंकार को राजा के समान, बुद्धि को नर्तकी के समान, विषयों को दर्शकों के समान और साक्षी को दीपक के समान माना है। इस साक्षी रूप दीपक के कारण ही अहंकारादि काम कर सकते हैं। यह साक्षी रूप दीपक अहंकार आदि के अभाव में भी वैसा ही प्रकाशमान रहता है, जैसा अहंकारादि के बीच प्रकाशमान रहता था। इस प्रकार से विमर्श करने से साधक कूटस्थ की निर्विकारता और सदा संभवता का प्रमाण प्राप्त कर सकता है।

निरंतरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१६५॥

अर्थ : **निरंतरं**—निरंतर। **भासमाने**—प्रकाशमान। **कूटस्थे**—कूटस्थ। **ज्ञप्तिरूपतः**—ज्ञान स्वरूप है। **तद्भासा**—उसके प्रकाश से। **अयं**—यह

संसार। भास्यमाने—प्रकाशित होता है। बुद्धि—बुद्धि। नृत्यति—नृत्य करती है। अनेकधा—अनेक प्रकार से।

टिप्पणी : कूटस्थ ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, उसके प्रकाश से ही यह संसार प्रकाशित होता है। बुद्धि भीतर-बाहर नृत्य करती है। वास्तव में इस श्लोक का अर्थ ऊपर के श्लोक का विस्तार है।

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥१९६॥

अर्थ : अहंकारः—अहंकार। **प्रभुः**—स्वामी है। **विषया**—विषय। **सभ्या**—सभासद् है। **मतिः**—बुद्धि। **नर्तकी**—नाचने वाली है। **अक्षाणि**—इन्द्रिय हैं। **तालादिधारीण्या**—मृदंग आदि धारण करने वाले। **दीपः**—दीपक। **साक्ष्य**—साक्षी। **अवभासकः**—चमकाने वाला है।

टिप्पणी : प्रस्तुत श्लोक में नाटक के मुख्य अंगों का उदाहरण देकर साक्षी और जगत की रचना को समझाते हैं। अहंकार को राजा माना है, समस्त विषयों को सभासद् कहा है, बुद्धि की उपमा नर्तकी के साथ दी है। मृदंग, सारंग, तानपूरा, सितारादि इन्द्रिय माने हैं। इन सबका प्रकाशक दीपक साक्षी रूप से माना हैं। इस नाटक-दीप के प्रसंग में बीच में चमकाने वाला दीपक सदृश्य साक्षी सुगमता से अनुभव में आता है। मुमुक्षु को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने के उद्देश्य से यह सब उपमाएं दी हैं।

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरंतः प्रकाशयेत् ॥१९७॥

अर्थ : यथा—जैसे। **स्वस्थान संस्थितो**—अपने स्थान पर स्थित हुआ।

दीपः—दीपक। सर्वतो—प्रत्येक दिशा को। भासयेत्—प्रकाश करता है। तथा—वैसे ही। साक्षी—साक्षी। स्थिरस्थायी—एक स्थान पर स्थित हुआ। बहिरंतः—भीतर-बाहर। प्रकाशयेत्—प्रकाश करता है।

टिप्पणी : ब्रह्म साक्षी के अन्य गुणों के साथ अचल भी एक गुण है। आकाश की तरह अचल है। यद्यपि आकाश में सब कुछ होता है, तथापि आकाश निश्चल है और निर्विकार है। समस्त व्यवहार आकाश में होते हैं, किन्तु फिर भी आकाश निर्विकार है। इसी प्रकार ब्रह्म साक्षी जो ज्ञान रूप है, प्रकाश रूप है और कूटस्थ रूप है—एक स्थान पर निश्चल रह कर भीतर बाहर प्रकाश करता है।

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यांतरहंकृतिः ॥१९८॥

अर्थ : अयं—यह। बहिरन्तर—भीतर-बाहर। विभागो—विभाग। देहापेक्षो—देह की अपेक्षा से है। न साक्षिणि—न कि साक्षी के। बाह्य—बाहर। देशस्था—के देश में स्थिर। विषया—विषय हैं। देहस्य—देह के। अन्तर—भीतर। अहंकृतिः—अहंकार है।

टिप्पणी : बाहर-भीतर-विभाग वहां होता है, जहां कोई स्थूल पदार्थ विवाद में हो। जहां आकाश के सदृश्य व्यवहार हो, वहां भीतर-बाहर वस्तु के अधीन हो सकता है। इसी कारण से ग्रन्थकार निर्णय करते हैं कि यह भीतर-बाहर का विभाग देह दृष्टि से कहा गया है, न कि साक्षी की दृष्टि से। अर्थात् समस्त विषय शरीर से बाहर हैं और कर्ता रूप अहंकार शरीर के अन्दर है।

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यास्त्वदेशभाक ।
सर्वदेश प्रक्लृप्त्यैव सर्व गत्वं न तु स्वतः ॥१९९॥

अर्थ : **यदि**—यदि । **देशः**—देश । **न कोऽपि**—कोई भी नहीं । **भासेत**—प्रतीत होता है । **तर्ह्य**—फिर । **अस्त्व**—होने दो । **अदेशभाक्**—देश-रहित । **सर्व**—सब । **देश**—देशों की । **प्रक्लृप्त्यैव**—कल्पना ही से । **सर्व गत्वं**—सर्व व्यापी है । **न तु स्वतः**—न कि अपने आप से ।

टिप्पणी : पूर्व पक्षी आक्षेप करते हैं, कि ब्रह्म चैतन्य में कोई देश नहीं है, तो भीतर-बाहर देश का आप किस प्रकार निर्णय करते हैं, अर्थात् देशों का विभाग कल्पना से ही है । इस आक्षेप के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसा ही हो, कारण यह है कि वह चैतन्य ब्रह्म देश-रहित हैं, उसमें कोई देश नहीं है । देश की कल्पना से ही हम उस चैतन्य ब्रह्म को सर्वव्यापी बताते हैं, न कि ब्रह्म चैतन्य के, जो अदेश भाक् है, उसकी कल्पना से । वास्तव में वह चैतन्य ब्रह्म देश-काल की कल्पना से परे है । जब विचार करते हैं, तो यह समझ में आता है कि उस चैतन्य ब्रह्म में न कोई देश है और न कोई काल है । यदि यही भाव साधक ध्यान में रक्खेगा तो उसको एक विलक्षण आनन्द की उपलब्धि होगी ।

यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्धया तत्तत्प्रकाशयन् ।
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्धयगोचरः ॥२००॥

अर्थ : **बुद्धया**—बुद्धि से । **यत-यत**—जिस-जिस । **रूपादि**—रूपादि की । **कल्प्येत्**—कल्पना की जाती है । **तत्-तत्**—उस-उसको । **प्रकाशयन्**—प्रकाश करता है । **तस्य-तस्य**—उसी-उसी । **भवेत्**—का होता है । **साक्षी**—

साक्षी। स्वतो—अपने आप। वाग्बुद्धयगोचरः—वाणी और बुद्धि का विषय नहीं है।

टिप्पणी : साक्ष्य के सानिध्य होने से साक्षी कहा जाता है। वास्तव में यह साक्षी कहना भी कल्पना है। जिस-जिस रूप, रस, गंध आदि पदार्थ को बुद्धि कल्पना करती है, उसी को साक्षी चैतन्य प्रकाश करता है और साक्षी कहलाता है। वास्तव में साक्षी कहना भी कल्पना ही है। नेति-नेति वाक्य से ही शुद्ध ब्रह्म का अनुभव हो जाता है।

भारतीय संस्कृति में स्त्रियां अपने पति का नाम नहीं लेती थीं। जब माता सीता जी से सखियों ने पूछा :—

"कहु सावरे से सखि रावरे को हैं ?"

तो माता सीता जी ने अन्य साथियों का नाम-सहित परिचय दिया, किन्तु राम का परिचय नाम न लेकर संकेत से इस प्रकार दिया :—

"तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछु.
मुसुकाय चलीं।"

प्रस्तुत प्रसंग ब्रह्म की असीमा भी संकेत से समझना चाहिए।

इसी प्रकार अन्य अनात्म वस्तुओं को तिरस्कृत करके निषेध अवधिभूत् चैतन्य ब्रह्म है, जैसा कि उपरोक्त नेति-नेति से अभिव्यक्त है।

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम।
सर्वग्रहोपसंशांतौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२०१॥

अर्थ : तादृङ्—फिर। मया—मैं। कथं—कैसे। ग्राह्य—ग्रहण कर सकता हूं। इति चेत्—यदि ऐसा कहोगे। मैवगृह्यताम—मत ग्रहण करो।

सर्व ग्रहोपसंशांतौ—सब ग्रहण करने योग्य जब शान्त होंगे। **स्वयमेव**—स्वयम् यह साक्षी। **अवशिष्यते**—शेष रहता है।

टिप्पणी : पूर्व पक्षी कहते हैं, कि जब यह चैतन्य ब्रह्म अवांग मन से गम्य है, तब साधक कैसे इसको ग्रहण कर हकता है ? आचार्य उत्तर देते हैं—कि जब ग्रहण करने योग्य पदार्थ मन में शान्त होंगे, तब वहां ब्रह्म चैतन्य शेष रहता है। इस कारण से साधक को निर्विकल्प मन बनाना चाहिए। नित्य प्राप्त, स्वयं प्राप्त हो जायेगा।

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥२०२॥

अर्थ : **स्वप्रकाशस्वरूपतः**—स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण। **तत्र**—उसमें। **मानापेक्षा**—प्रमाण की अपेक्षा। **न अस्ति**—नहीं है। **चेत्**—यदी। **तादृग्व्युत्पत्ति**—वैसे ज्ञान की अपेक्षा है। **श्रुति पठ**—श्रुति को पढ़ो। **गुरुर्मुखात्**—गुरु-मुख से।

टिप्पणी : "मैं हूं" इसमें प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? "मैं क्या हूं।" ऐसा विचार करना तो साधक का काम है। वह विवेचन करके सब मन के ग्रहणीय पदार्थों को शान्त करके स्वयं अनुभव कर सकता है। ऐसा करने में गुरु की आवश्यकता अवश्य होती है।

गुरु की आवश्यकता के विना कोई काम नहीं हो सकता है। यह प्रसिद्ध बात है। छोटे बच्चे से लेकर बूढ़ों तक को भी किसी न किसी रूप में गुरु की आवश्यकता रहती है, चाहे वह अध्यापक हो, चिकित्सक हो या अन्य किसी विज्ञान का ज्ञाता हो, गुरु-बिना कोई काम सिद्ध नहीं हो सकता है। गुरु का धारण करना एक नितान्त ही सूक्ष्म कार्य है। गुरु को धारण करके

उसकी उपेक्षा करना या अवहेलना करना एक महान दोष है। जो पथ-प्रदर्शक होगा, उसके हम हर प्रकार से आभारी हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से हमें उसका आभार प्रकट करना उचित है। इसी कारण से भारतीय संस्कृति में गुरु को परमात्मा से दूसरी श्रेणी में माना है। यहां तक कि कितने ही भक्तों और ज्ञानियों ने तो परमात्मा से भी प्रथम स्थान गुरु का माना है और स्वयं परमात्मा का आदेश भी इसी कोटि का है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में इस प्रकार के बहुत से प्रमाण भरे पड़े हैं

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज।
शरणं तधीनोंऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥२०३॥

अर्थ : यदि—यदि। **सर्वग्रहत्यागो**—सब जानने योग्य पदार्थों का त्याग। **अशक्य**—संभव न हो। **र्तार्ह**—फिर। **बुद्धि**—बुद्धि के। **शरणं**—शरण। **व्रज**—जाओ। **तद्धीन**—उस बुद्धि के अधीन। **अन्तर्बाहरवा**---भीतर बाहर या। **ईषो**—इस साक्षी को। **अनुभूयताम्**—अनुभव करना चाहिए।

टिप्पणी ; उत्तम साधक को उपाय बता कर अब ग्रन्थकार मध्यम साधक को उपाय बताते हैं। कहते हैं, हे पूर्व पक्षी ! यदि सर्व ग्रहणीय पदार्थों का मन से शान्त नहीं हो सकता, तो बुद्धि के अधीन रह कर बुद्धि साक्षी को कभी भीतर, कभी बाहर में अनुभव करो, अर्थात् शरीर के भीतर का ज्ञान और बाहर का ज्ञान बुद्धि से होता है, बुद्धि बिना साक्षी कुछ काम नहीं कर सकता है। इस कारण से आचार्य भीतर-बाहर के ज्ञान पर विवेचन करने को कहते हैं। भीतर का ज्ञान सुख•दुःख रूप है और बाहर का वाह्य पदार्थ रूप है। इस लिए मध्यम अधिकारी को आचार्य विचार करने की शिक्षा करते हैं।

॥इति नाटकदो र प्रकरणम् समाप्तम् ॥



आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिता कर्माग्निसंभृता ॥२०४॥

अर्थ : ब्रह्मणो—ब्रह्म को। **आनंदं**—आनन्द रूप। **विद्वान्**—जान कर। **एतमेव**—इस ज्ञानवान को। **न विभेति कुतश्चन**—किसी प्रकार से भय नहीं होता। **कर्माग्नि संभृता**—कर्म न करने से बढ़ी हुई अग्नि। **एषांचिता**—इससे चिता रूपी अग्नि। **न तपेत**—तपायमान नहीं करती।

टिप्पणी : ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। आनन्द और भय का तम प्रकाशवत् भेद है। जब ज्ञानवान ब्रह्म को आनन्द रूप जानता है और अनुभव करता है, तो उसको कोई भय नहीं प्रतीत होता। कर्म बहुत प्रकार के हैं, नित्य-कर्म, नैमित्तिक कर्म और प्रायश्चित कर्म। इन कर्मों के न करने से साधारणतया भय प्रतीत होता है। परन्तु इस ज्ञानवान को इन कर्मों के न करने का कोई भय नहीं होता। वह स्वयं परमानन्द स्वरूप होता है। कहीं कर्मों के करने से भय होता है, कहीं उनके न करने से भय होता हैं। शुभ कार्य न करने से और अशुभ कार्य करने से भय होता है। यह जानकर कि मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूं, ज्ञानवान को कोई भय नहीं होता। यही श्रुति का तात्पर्य है।

नित्य कर्म अवस्था, आश्रम आदि, देश-काल आदि में जो नित्य करने को विधान किया है, उसको नित्य कर्म कहा जाता है। यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न विधि है।

नैमित्तिक कर्म वे होते हैं, जिनको किसी निमित्त के कारण किया जाता

है, जैसे जाति कर्म, नाम कर्म, उपनेन कर्म आदि हैं। इनकी नित्र करने की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रायश्चित कर्म न जाने हुए पापों की निवृत्ति के प्रतिदिन या प्रतिपक्ष किए जाते हैं। इनके न करने से जो दोष होते हैं, वे ज्ञानवान को तपायमान नहीं करते।

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वात्मानं स्मरेत्सदा।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥२०५॥

अर्थ : **एवं**—इसी प्रकार। **विद्वान**—जानने वाला। **द्वे कर्माणी**—दोनो, पुण्य रूप और पाप रूप कर्मों को। **हित्वा**—छोड़ कर। **आत्मानं**—ब्रह्म और आत्मा का। **सदास्मरेत्**—सदा सुमिरण करे। **एष**—यह विद्वान। **कृते च कर्मणी**—किए हुए कर्मों को। **स्वात्म रूपेणैव**—स्वात्म रूप ही। **पश्यति**—देखता है।

टिप्पणी : उपरोक्त निरूपित कर्मों के न करने के भय की अपेक्षा से ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का चिन्तन करना अति श्रेष्ठ है। जो कर्म किये हों उसको भी स्वात्मरूपता से देखकर कोई पश्चाताप नहीं होता। ये पुण्य रूप और पाप रूप कर्म जो कुछ हैं, वे स्वप्न रूप मायामय समझता है और अपने स्वरूप को माया से परे जानता है और अनुभव करता है। पिछले किए हुए कर्मों को भी स्वात्म रूप ही समझता है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि यह ज्ञानवान पाप रूप कर्म भी करता रहे। लोकाचार की दृष्टि से वह पतित समझा जाएगा और श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या को कलंक आएगा। इस कारण से यह ज्ञानवान बुरे कर्म करने से पथ्य करेगा।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यंते सर्व संशयाः।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥२०६॥

अर्थ : **हृदय ग्रन्थि**—हृद्रय की चैतन्य जड़ रूप ग्रन्थि। **भिद्यते**—खुल गई हो। **सर्व संशयाः**—सब संशय विपर्य। **श्छिद्यंते**—नष्ट हुए हो। **चास्य**—इस ज्ञानवान के। **क्षीयते**—नाश हो जाते हैं। **कर्माणि**—सब कर्म। **तस्मिन्दृष्टे**—उस परमात्मा के देखने से। **परावरे**—जो हिरण्य गर्भ से भी श्रेष्ठ हैं।

टिप्पणी : वेदान्त शास्त्र में चित्त और जड़ की ग्रन्थि का शब्द आता है, जिसका तात्पर्य यह है कि चैतन्य रूप ब्रह्म का अध्यास जड़ रूप प्रपंच पर होता है। जब विचार करके चैतन्य का जड़ से अलग अनुभव होता है तो श्रुति उसको चित्त जड़ ग्रन्थि का भेदन कहती है। इस पर श्रुति कहती है, जब चैतन्य और जड़ की ग्रन्थि को खोला हो और दोनों को अलग-अलग अनुभव किया हो तो समस्त रूप विपर्य आदि संदेह दूर हो जाते हैं। तत्पश्चात् कर्मों के फल का भी नाश हो जाता है। यह ज्ञानवान कर्मों को स्वप्नवत् असत्य समझता है और हिरण्य गर्भ से ऊपर जो वस्तु है, उसका अनुभव करता है।

देवंमत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान्।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥२०७॥

अर्थ : **देवं मत्वा**—स्वप्रकाश देव को अनुभव करके। **धैर्यवान्**—धैर्यवान ज्ञानी। **अत्रैव**—इसी शरीर में। **हर्ष शोकौ**—हर्ष और शोक को। **जहात्य**—छोड़ देता है। **एनं**—इसको। **कृताकृते**—किए और न किए। **पुण्यपापे**—

पुण्य और पाप। क्वचित्—कहीं भी। न तापयत:—तपायमान नहीं करते।

टिप्पणी : इस आत्मदेव को अनुभव करके धैर्यवान ज्ञानी इसी शरीर में हर्ष और शोक दोनों को छोड़ देता है। किए हुए या न किए हुए पुण्य कर्म और पाप कर्म इसको तपायमान नहीं करते हैं।

आनंदादेव भूतानि जायंते तेन जीवनम्।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानंदो न संशय: ॥२०८॥

अर्थ : **आनंदादेव**—आनन्द से ही। **भूतानि**—सब जीव। **जायंते**—उपजते हैं। **तेन**—उसी आनन्द से। **जीवनम्**—वे जीवित रहते हैं। **तेषां**—उनका। **लयश्च**—लय भी। **तत्र**—उसी आनन्द में होता है। **अतो**-इस लिऐ। **ब्रह्म**--चैतन्य ब्रह्म। **आनंदो**—आनन्द ही है। **संशय: न**—इसमें कोई संशय नहीं है।

टिप्पणी : यह सर्व जन मान्य रहस्य है कि आनन्द से हीं स्त्री-पुरुष संयोग से इस जीव-जगत की उत्पत्ति हुई है। तत्पश्चात् मरण-काल तक आनन्द के बिना रह नहीं सकते। यह आनन्द विभिन्न साधनों से जीवन में उपलब्ध होता है। जिन व्यक्तियों को किसी प्रकार का अनन्द नहीं होता, ये भी निन्द्रा में या सुषुप्ति में आनन्द का भोग करते हैं। जब अत्यन्त दु:ख से शरीर थकता है और चूर होता है तो निन्द्रा आती और आनन्द आता है। यदि ऐसा न हो जाए तो आनन्द प्राप्ति के लिए कितनी ही औषधियां दी जाती हैं। साधारणतया देखा जाए तो प्रत्येक कर्म आनन्द की ही प्राप्ति के लिए किया जाता है। जब शरीर छोड़ने का समय आता है तो उस समय आनन्द में मनुष्य लय हो जाता है। मरने से पूर्व कुछ क्षण के लिए यदि कुछ

दुःख हो तो हो, परन्तु अन्त में आनन्द में ही लय हो जाता है। इसी कारण से वेद-शास्त्रों ने इस उपलब्ध संसार के पीछे आनन्द ही माना है। इसमे किसी को संशय नहीं हो सकता है, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय और देश का हो।

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैत वर्जनात्।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो॥२०९॥

अर्थ : भूतोत्पत्तेः—भूतो की उत्पत्ति से। **पुरा**—पहले। **भूमा**—अपरिच्छिन्न था। **द्वैत**—द्वैत रूपी। **त्रिपुटी**—त्रिपुटी। **वर्जनात्**—न होने के कारण। **ज्ञातृ**—जानने वाले के रूप में। **ज्ञान**—जानने के रूप में। **ज्ञेय रूपा**—जाननीय पदार्थ के रूप में। **त्रिपुटी**—त्रिपुटी। **प्रलये हि**—प्रलय काल मे भी। **नो**—नहीं है।

टिप्पणी : तर्क-वितर्क से यह समझ में आता है कि कभी न कभी इस सृष्टि का आरम्भ तो हुआ ही है और कभी न कभी इसका अन्त भी अवश्य होगा। अतः आचार्य कहते हैं कि वह अखंड कोई वस्तु है। जो सृष्टि से पहले ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी से रहित था और वैसा ही इस सृष्टि के अन्त समय भी, कोई त्रिपुटी नहीं होगी यह अनुमान से सिद्ध है। वैज्ञानिक लोग इसमें कोई आक्षेप नहीं कर सकते हैं। यह कल्पना करना उचित है।

वेदाभ्यासात्पुरा तपत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चाततत्व भ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता॥२१०॥

अर्थ : वेदाभ्यासत्पुरा—वेद के अभ्यास के पहले। **तापत्रय**—तीन ताप

(अध्यात्म, आधिभौति, आधिदैव)। मात्रेण—मात्र से। शोचिता—शोक करता था। पश्चातत्व—वेद के अभ्यास के बाद। अभ्यास—अभ्यास रूप। बिस्मार—भूल रूप (विस्मरण रूप)। भंग—तिरस्कार रूप। गर्वश्च—अभिमान रूप। शोकिता—शोक करता हूं।

टिप्पणी : नारद जी ने जब सनत कुमारों से विद्या का अध्ययन किया, तब कहने लगे, हे सनत कुमारो, वेद के पढ़ने से पहले मैं तीन तापों से दुखित था, अर्थात् आध्यात्मिक ताप, आधि भौतिक ताप और आधि दैविक ताप से दुखित होता था। प्रति जीव अपने शरीर के ताप से, दूसरे प्राणियों के दुःख देने से और प्रकृति के कोप से दुःखित होते हैं। यही तीन ताप माने हैं। नारद जी ने और चार दुःख अनुभव किए—अर्थात् वेद का अभ्यास करना भी दुःख है, विस्मरण भी दुःख है, अधिक विद्वान के सामने पराजित होना भी दुःख है और न्यून अध्ययन किए हुए लोगों के सामने गर्व भी दुःख है। नारद जी का कहना है कि शास्त्रों के अध्ययन से मुझे क्या लाभ हुआ। पहले तीन दुःख थे, अब सात हो गए। ये सातों दुःख प्रत्येक को भोगने पड़ते हैं। यदि उन्होंने विद्या का मर्म न समझा हो और फलस्वरूप उससे लाभ न हुआ हो। विद्या वह हो सकती है, जिससे कष्ट दूर हों। यदि कष्ट दूर न हुए तो विद्या निरर्थ है, जैसा आधुनिक समय में है।

सुखं वैषयिकं शोक सहस्रेणावृतत्वतः।
दुःखमेवेति मत्वाऽह नाल्पेऽस्ति सुख मित्यसौ ॥२११॥

अर्थ : वैषयिकं—विषयों का। **सुखं**—सुख। **शोकसहस्रेण**—हज़ारों दुःखों से। **आवृतत्वतः**—ढका हुआ होने के कारण। **दुःखमेवेति मत्वा**—दुःख ही है, ऐसा मान कर। **असौ**—यह सनत कुमार। **आह**—कहने लगे, **नाल्पेऽस्ति सुखं**—परिच्छिन्न में सुख नहीं है। **इति**—ऐसा।

टिप्पणी : जो परिच्छिन्न है, वह अखंड नहीं है। अतः जसमें सुख भी नहीं है। ऐसा मान कर सनत कुमारों ने विषय सुखों को दुःख ही बताया है। विषय सुख हज़ारों दुःखों से घेरा हुआ होता है और क्षणिक होता है। जैसे किसी निर्मल जलाशय पर काई जमी हो, तो हम काई को इधर-उधर करके निर्मल जल ले लेते हैं। तत्पश्चात् यह काई फिर निर्मल जल को ढक लेती है। इसी प्रकार जब विषय-सुख भोगते हैं, तब उसके दूसरे क्षण में शरीर का दोष, मन का दोष, और विषय का दोष पुनः हमको आवृत्त कर लेता है। इस कारण से सनत कुमारों ने विषय सुख को दुःख ही माना है।

सहत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥११२॥

अर्थ : **महत्तर**—बहुत बड़े। **प्रयासेन**—कष्ट से। **मृदुशय्यादि**—नरम बिस्तरादि। **साधनं**—साधन। **सुप्तौ**—सुषुप्ति के लिये। **कुतः**—क्यों। **संपाद्यते**—सिद्ध-कर्ता। **सुखंचेत**—यदि सुख। **तत्र नो भवेत्**—वहां नहीं होता।

टिप्पणी : प्रत्येक जीव सुख को आकांक्षा से नरम-नरम बिस्तरा प्राप्त करके समस्त विरोधी पदार्थों को दूर करके नींद करना चाहता है। जैसे किवाड़ बन्द करता है, खटमल-मच्छर आदि को दूर करता है, फिर नरम बिस्तरे पर सो जाता है। यदि नींद में सुख नहीं होता, तो ये सारे साधन प्रयास से क्यों उत्पन्न करता ? अतः यह सिद्ध होता है, कि नींद या सुषुप्ति में आनन्द है। यह आनन्द प्रत्येक के लिए अवश्य होना चाहिए, चाहे कितना भी प्रयास करना पड़े।

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥२१३॥

अर्थ : **जाग्रद्व्यावृत्तिभिः**—जागृत के व्यवहार से। **श्रान्तो**—थका हुआ। **विश्रम्य**—आराम करता है। **अथ**—फिर। **विरोधिनि**—विरोधी पदार्थों को। **अपनीते**—हटा कर। **स्वस्थचित्तो**--स्वस्थ चित्त होकर। **विषये सुखम्**—विषय सुख। **अनुभवेत्**—अनुभव करता है।

टिप्पणी : जागृत का व्यवहार अवश्य ही थकावट उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् प्रत्येक मनुष्य विरोधी पदार्थों को हटा कर अपने कमरे में अपने आसन पर स्वस्थ चित्त होकर बैठता है। विरोधी पदार्थ वे हो सकते हैं, जिनसे श्रम हो, और यह स्वस्थ चित्त रह कर थकावट दूर करना चाहता है। इस दशा को विषय सुख माना है।

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानंदः प्रतिबिंबति।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्ति माप्नुयात् ॥२१४॥

अर्थ : **आत्माभिमुख**—आत्मा से सम्मुख। **धीवृत्तौ**—बुद्धि की वृत्तियां। **स्वानंदः**—अपने स्वरूप के आनन्द को। **प्रतिबिंबति**—प्रतिबिंबित करती हैं। एन **अनुभूयै**—इनको अनुभव करके। **अत्रापि**—यहां भी। **त्रिपुटया**—त्रिपुटी के कारण। **श्रान्ति माप्नुयात्**—थकावट को प्राप्त होता है।

टिप्पणी : जब मनुष्य विरोधी पदार्थों को दूर करके स्वस्थ चित्त होकर बैठता है और मन का विक्षेप दूर होता है तो स्वयम् अपने आनन्द स्वरूप की तरफ बुद्धि की वृत्तियां जाती हैं। यह बुद्धि की वृत्तियां निर्मल होने के कारण अपने स्वरूप के आनन्द को प्रतिबिंबित करती हैं। तब मनुष्य स्वतः आनन्द का अनुभव करता है, क्योंकि उसका स्वरूप ही आनन्द है। इस

आनन्द का अनुभव करने में वृत्ति इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी से भी इसको श्रम होता है और इस त्रिपुटी रूप श्रम को भी दूर करना चाहता है।

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानंदः स्वयं भवेत् ॥२१५॥

अर्थ : तच्छ्रमस्य— उस थकावट को। **अपनुत्यर्थं**—दूर करने के लिए। **जीवो**—जीव। **धावेत**—दौड़ता है। **परात्मनि**—परमात्मा की ओर। **तेनैक्यं**—उस परमात्मा के साथ ऐक्य। **प्राप्य**—प्राप्त करके। **तत्रत्यो**—उसके बाद। **ब्रह्मानंदः**—ब्रह्मरूप आनन्द। **स्वयं भवेत**—स्वयं हो जाता है।

टिप्पणी : जब यह स्वस्थ चित्त मनुष्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशा में पहुंच जाता है, तब त्रिपुटी रूप श्रम को निवृत्त करने के लिए परमात्मा की ओर दौड़ता है। यह परमात्मा उसका अपना स्वरूप है। उसके साथ ऐक्य प्राप्त करके स्वयं आनन्द रूप हो जाता है।

दृष्टांतः शकुनिः श्येनः कुमारञ्च महानृपः।
महा ब्राह्मण इत्येते सुप्तयानंदे श्रुतीरिताः ॥२१६॥

अर्थ : सुषुप्तानंदे—सुषुप्ति के आनन्द में। **दृष्टांताः**—दृष्टान्त, अर्थात् उपमा। **शकुनि**—पक्षी। **श्येन**—बाज (दूरगामी पक्षी)। **कुमारश्च**—दूध पीने वाला बालक। **महानृपः**—चक्रवर्ती राजा। **महाब्रोह्मण**—ज्ञानवान ब्राह्मण। **इत्ये**—ऐसा। **एन**—यह। **श्रुतीरिताः**—श्रुति ने कहा है।

टिप्पणी : अर्थ स्पष्ट है। कुमार शब्द का छः मास का दूध पीने वाला बालक यहां तात्पर्य है। चक्रवर्ती राजा को शास्त्रों में आयु, अवरोग्य और ऐश्वर्य में स्वाधीन माना है।

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बंधन स्थानं हस्तस्तंभद्युपाश्रयेत् ॥२१७॥

अर्थ : **शकुनिः**—पक्षी । **सूत्रबद्ध**—डोर से बंधा । **सन्**—हो । **दिक्षु**—दूर दिशाओं में । **व्यापृत्य**—व्यवहार करके । **विश्रमम्**—ठहरने की जगह । **अलब्ध्वा**—न पाकर । **हस्तस्तंभाद्यु**—हाथ और खम्भे आदि । **बन्धन स्थानं**—बंधन के स्थान को प्राप्त करके । **उपाश्रयेत्**—विश्राम करता है ।

टिप्पणी : यह अनुभव सिद्ध है कि जो पक्षी पालते हैं, वे उन पक्षियों को आकाश में गमन करने के लिए छोड़ते हैं, परन्तु उनके पांवों में एक लम्बी डोर बंधी रहती है, ताकि वे कहीं भाग न जाएं । जब यह पक्षी थक कर कहीं विश्राम की जगह नहीं पाता है तब उस खम्भे या हाथ के साथ बंधे हुए डोर के साथ वापिस विश्राम के लिए आता है ।

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्म फलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रांत्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥२१८॥

अर्थ : **तद्वत्**—इसी प्रकार । **जीवोपाधि**—जीव की उपाधि । **मनः**—मन या अन्तकरण । **धर्माधर्म**—पुण्य-पाप के । **फलाप्तये**—फल प्राप्ति के लिए । **स्वप्नेजागृत च**—स्वप्न और जागृत में । **भ्रान्त्वा**—फिरता हुआ । **क्षीणे**—नाश हुए । **कर्मणि**—कर्मों पर । **लीयते**—सुषुप्ति में लीन होता है ।

टिप्पणी : जैसे पक्षी विश्राम का स्थान ढूंढता है, वैसे ही जीव की उपाधि अंतःकरण भी स्वप्न और जागृत में फल भोगता हुआ सुषुप्ति में लीन होना चाहता है । जीव तीन अंगों का बना होता हैं । अधिष्ठान, उपाधि और उपाधि में अधिष्ठान का प्रतिबिंब । इस उपाधि के द्वारा स्वप्न और जागृत में यह प्रतिबिंब रूपी जीव कर्मों का फल भोगता है । जब

पक्षी के समान कर्मों का फल भोगते-भोगते थक जाता है तब सुषुप्ति रूप विश्राम को चाहता है। सुषुप्ति में कर्मों का भोग नहीं होता है। यहां ग्रानन्द-मय कोष में रहकर इस जीव को ग्रन्य जीवों के साथ ऐक्य होता है। यह मांडोक्य उपनिषद् के छटवें मंत्र में स्पष्ट किया है। जब इस जीव के कर्म क्षीण हो जाते हैं तभी इसको सुषुप्ति ग्राती है। यह क्षीणता क्षणिक होती है।

श्येनो वेगेन नीडकैलंपटः शयितुं ब्रजेत्।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद्ब्रह्मानंदैकलंपटः ॥२१६॥

ग्रर्थ : श्येनो—बाज। **वेगेन**—तेजी के साथ। **नीडैकलंपटः**—घोंसले के केवल लोभ से। **शयितुं ब्रजेत**—सोने के लिए जाता है। **तथा**—वैसे ही। **जीवः**—जीव। **ब्रह्मानंद**—ब्रह्म ग्रानन्द। **लंपटः**—के लोभ में। **सुप्त्यौ**—सुषुप्ति में। **धावेत्**—दौड़ता है।

टिप्पणी : बाज को उड़ते-उड़ते जब विश्राम कहीं नहीं मिलता तब वह ग्रपने घोंसले की तरफ जल्दी ग्राता है, ताकि वहां विश्राम करे। इसी प्रकार जीव जब कर्मों के फल भोगते-भोगते थक जाता है, तब ब्रह्मानन्द ग्रर्थात् सुषुप्ति में डुबकी लगनाना चाहता है। वहां से वह स्वस्थ होकर निकलता है। इस भाव में मनोवैज्ञानिकों का समर्थन है।

ग्रति बालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन्।
रागद्वैषाद्यनुत्पत्तेरानंदैक स्वभावभाक् ॥२२०॥

ग्रर्थ : रागद्वैषाद्य—राग द्वेष ग्रादि। **ग्रनुत्पत्तेर**—के न उत्पन्न होने के कारण। **ग्रानंदैक**—केवल ग्रानन्द। **स्वभावभाक्**—स्वभाव को भजता हुग्रा। **ग्रति बालः**—छोटा छः मास का बालक। **स्तनं पीत्वा**—मां का

दूध पीकर। **मृदुशय्यागतो**—कोमल बिस्तरे में ठहरा हुआ। **हसन्**—हंसता है।

टिप्पणी : जब दूध पीता हुआ छः मास का बालक मां का दूध पीकर नरम शय्या पर लेटा हुआ हो तो कभी-कभी यह छः मास का बालक हंसता है। अनुमान से देखा जाए तो इस बालक के हंसने का कोई कारण नहीं है। हंसने का कारण यह हो सकता है कि वह आनन्द स्वरूप को राग-द्वेष छोड़ कर भजता है। संसार में सब दुःखों का कारण राग-द्वेष है। जिसको जितना राग-द्वेष कम होगा, उसको उतना ही सुख-दुःख कम होगा। जो हम ज्ञानवानों में राग-द्वेष देखते हैं, उसको रागाभास, या द्वेषाभास कहते हैं और फलस्वरूप सुख-दुःख भी आभास रूप होता है और वास्तव में नहीं।

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्व भोगतः।
मानुषानंदसीमानं प्राप्यानंदैकमूर्तिभाक् ॥२२१॥

अर्थ : सार्वभौमः—चक्रवर्ती। **महाराजः**—महाराज। **सर्व भोगतः**—सब भोगों से। **संतृप्तः**—पूरा तृप्त। **मानुषानंद**—मनुष्य आनन्द की। **सीमानं**—सीमा को। **प्राप्य**—प्राप्त करके। **आनंदैक**—केवल आनन्द। **मूर्तिभाक्**—मूर्ति का भजने वाला होता है।

टिप्पणी : शास्त्रों का वचन है कि चक्रवर्ती महाराजा को सब मनुष्य आनन्द प्राप्त होते हैं। उनको आयु, अवरोग्य, ऐश्वर्य अपने अधीन होते हैं। जिस समय तक वे इस मनुष्य आनन्द को भोगना चाहते हैं, भोग सकते हैं, परन्तु इनको ज्ञानवान नहीं माना है। इसी प्रकार सुषुप्ति आनन्द होता है, परन्तु वहां ज्ञान नहीं होता।

महा विप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥२२२॥

अर्थ : महा विप्रो—श्रेष्ठ ब्राह्मण । **ब्रह्म वेदी**—चैतन्य ब्रह्म का ज्ञाता । **कृतकृत्यत्व**—कृतार्थता के । **लक्षणाम्**—लक्षणों वाला । **विद्यानन्दस्य**—विद्यानन्द को । **परमां**—ऊंचे । **काष्ठां**—सीमा को । **प्राप्यवतिष्ठते**—प्राप्त करके स्थित होता है ।

टिप्पणी : उपरोक्त प्रकार से श्रेष्ठ ब्राह्मण, जिसने ज्ञान प्राप्त किया हो और अन्य कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं हो, विद्यानन्द की अवधि प्राप्त करके आनन्द भोगता है ।

आनन्द बहुत प्रकार के होते हैं—जैसे विषयानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द, आदि में आनन्द भाग एक सा होता है, इसमें कोई अन्तर नहीं होता । साधनों के भेद से आनन्द में कोई भेद नहीं होता, जैसे मिठास का किसी वस्तु के साथ होकर स्वाद लें तो मीठा ही मालूम होता है । साधनों के भेद से साध्य में कोई अन्तर नहीं होता । ज्ञानवान का चक्रवर्ती राजा का अथवा बालक का आनन्द एकसा होता है । हां, इतना अन्तर अवश्य है कि कोई आनन्द क्षणिक होता है, कोई दीर्घकालिक होता है ।

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥२२३॥

अर्थ : लोके—संसार में । **मुग्ध**—छः मास का बालक । **बुद्ध**—चक्रवर्ती राजा । **अति बुद्धानां**—उत्तम ज्ञानवान ब्राह्मण में । **सुखात्मता**—सुख स्वरूपता । **सिद्धा**—सिद्ध है । **उदाहृतानामन्ये**—दृष्टान्त स्वरूप कहे गए के रहित । **तु**—निश्चय ही । **दुःखिनो**—दुखी हैं । **न सुखात्मकः**—न कि

सुख स्वरूप ।

टिप्पणी : आचार्य कहते हैं कि संसार में यदि कोई सुखी है तो वह बालक, चक्रवर्ती राजा और ज्ञानवान ब्राह्मण हैं। इनके अतिरिक्त और कोई सुखी नहीं है। संसार में दौड़-धूप जो होती है, वह एकमात्र आनन्द प्राप्ति के लिए होती है, परन्तु वह आनन्द क्षणिक है, और दुःखों से घेरा हुआ है। कोई विरल पुरुष ही दीर्घ कालिक आनन्द की खोज में सीधे-सादे साधनों का प्रयोग करता है।

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ।।२२४।।

अर्थ : सुखमस्वाप्सम—सुख से सोया था। **अत्राहं**—इस सुषुप्ति में मैं। **वै**—निश्चय रूप से। **न किंचिद्वेदिषम्**—कुछ भी नहीं जानता था। **इति सुप्ते**—ऐसा सुषुप्ति में। **सुखाज्ञाने**—सुख और अज्ञान का। **चोत्थितः**—सुषुप्ति से जागा हुआ। **परामृशति**—सुमिरण करता है।

टिप्पणी : यह सिद्ध है कि कभी-कभी सोया हुआ पुरुष जब जाग जाता है, तो कहता है, मैं सोया हुआ था सुख से कुछ भी नहीं जानता था। यह कहना स्मृति है। और स्मृति अनुभव के बिना नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि सोए हुए मनुष्य ने सुषुप्ति में सुख और अज्ञान का अनुभव किया है। इसी कारण से सुषुप्ति में सुख और अज्ञान का अनुभव प्रमाण देते हैं।

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।
अंतर्मुखमनोवृत्तावानंदः प्रतिबिंबति ।।२२५।।

अर्थ : लब्धेषु—प्राप्त किए। **विषयेष्वपि**—विषय भी हों। **तदिच्छो-**

परमे—तो उन विषयों की इच्छा निवृत्त । **सति**—हुई हो । **अन्तर्मुखमनोवृत्तौ**—अन्तर्मुख मन की वृत्तियों में । **आनन्दः**—स्वरूप के आनन्द का । **प्रतिबिंबति**—प्रतिबिंब पड़ता है ।

टिप्पणी : जिस विषय की इच्छा होती है, उसकी प्राप्ति पर आनन्द होता है, कारण यह है कि उस विषय की उपलब्धि के लिए मन हज़ारों प्रकार से विक्षिप्त होता है । जब यह विषय प्राप्त होता है और इच्छा दूर होती है तो मन की वृत्ति एकाग्र होकर अपने स्वरूप को प्रतिबिंबित करती है । जिस प्रकार एक दर्पण द्रुत गति से हिलता हो तो उसमें मुख का प्रतिबिंब नहीं आता । जितनी-जितनी गति कम होती जायेगी, उतना-उतना ही मुख स्पष्ट दीखता है और जब दर्पण गति-हीन होकर स्थिर हो जाता है तो मुख स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हो जाता है । यही दशा मन की चंचल वृत्तियों के साथ होती है । जब विषय की उपलब्धि के लिए मन की वृत्तियां चंचल रहती हैं तो उनमें स्वरूप का आनन्द प्रतिबिंबित नहीं होता और विषयों की उपलब्धि जब हो जाती है तो मन की शान्त वृत्तियों में स्वरूप का आनन्द स्थिर रूप से प्रतिबिंबित होता है ।

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोभ्यासयोगतः ।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोनुमीयते ॥२२६॥

अर्थ : यावत्-यावत्—जितना-जितना । **अहंकारो**—अहंकार । **अभ्यास**—अभ्यास । **योगतः**—योग से । **विस्मृतो**—भूल जाय । **तावत्-तावत्**—उतना उतना । **सूक्ष्मदृष्टिर**—सूक्ष्म दृष्टि से । **निजानंदो**—अपने स्वरूप का आनन्द । **अनुमीयते**—अनुमान करता है ।

टिप्पणी : आचार्य का कथन है कि ज्यों-ज्यों, जितना-जितना अहंकार प्रगाढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों, उतना-उतना ही निजानन्द दूर होता जाता है

और ज्यों-ज्यों, जितना-जितना अहंकार सूक्ष्म होता जाता है, अर्थात् क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों, उतना ही उतना निजानंद प्रतिभासित होने लगता है, अर्थात् निजानंद का अनुभव होने लगता है। यह सब क्रमिक अभ्यास से हो हो सकता है। यहां निजानन्द से तात्पर्य स्वरूपानन्द से है।

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजते।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोपिनोपतेत् ॥ २२७ ॥

अर्थ : सर्वात्मना—हर प्रकार से। **विस्मृतः**—विस्मृत। **सन**—हुआ हो। **परमां**—सबसे ऊँची। **सूक्ष्मतां**—सूक्ष्मता को। **व्रजते**—जाता है। **एषा**—यह अवस्था। **अलीनत्वान्न**—यह अहंकारलीन न होने के कारण। **निद्रान**—नींद नहीं है। **ततो**—इस कारण। **देहोपि**—शरीर भी। **नो पतेत्**—गिरता नहीं है।

टिप्पणी : अभ्यास के समय यह अहंकारलीन हो जाता है और नींद आ जाती है। जब बैठे-बैठे नींद आ जाती है, तब शरीर नीचे गिरता है। इसी कारण आचार्य का कथन है कि जब उच्च कोटि की सूक्ष्मता अहंकार में आ जाता है और साधक ध्यान में बैठता है, उसका शरीर नीचे नहीं गिरता है। अतः इस अवस्था की नींद के साथ उपमा नहीं देनी चाहिए।

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्।
स ब्रह्मानंद इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥ २२८ ॥

अर्थ : न द्वैतं—न तो द्वैत। **भासते**—प्रतीत होता है। **नापि**—नहीं। **निद्रा**—नींद। **यत्सुखम्**—जो सुख। **तत्रास्ति**—वहां है। **स ब्रह्मानंद**—वह ब्रह्मानंद है। **इति**—ऐसा। **आह**—कहते हैं। **भगवानर्जुनं प्रति**—भगवान अर्जुन को।

टिप्पणी : जिस अवस्था में न द्वैत प्रतीत होता है और न नींद प्रतीत होती है। जो सुख वहां होता है, वही ब्रह्मानंद है। ऐसा इसका निरुपण भगवान् ने गीता, ६ठें अध्याय में अर्जुन के प्रति किया है। पाठक कृपया श्री मद्भगवद् गीता के २०वें श्लोक से लेकर २८वें श्लोक तक देख सकते हैं। यह अवस्था पढ़ने से अनुभव में नहीं आ सकती है, साधना करने से ब्रह्मानंद का अनुभव हो सकता है।

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ २२६ ॥

अर्थ : यद्वत्—जैसे। **उदधेर**—समुद्र का जल। **कुशाग्रेणैकबिंदुना**—कुश के अग्र भाग से एक-एक बिंदु करके। **उत्सेक**—बाहर खींचा। **तद्वत्**—उसी प्रकार से। **मनसो**—मन का। **निग्रह**—निरोध। **अपरिखेदतः**—खेद-रहित। **भवेत्**—होता है।

टिप्पणी : "वाशिष्ठ" में एक कथा आती है, जिसमें अंगूठे के समान छोटे से पक्षी ने समुद्र पर कोप करके समुद्र को सुखाना चाहा। उस पक्षी के अण्डे समुद्र ने अपनी लहरों से बहाकर नष्ट किये थे। पक्षी ने छोटी सी चोंच में कुश के अग्र भाग को लेकर एक-एक बूंद करके समुद्र का पानी बाहर खींचना आरंभ किया। उसकी जाति के और पक्षी आ गए और उसको समझाने लगे, "कहां इतना विशाल और विस्तृत समुद्र और कहां तुम छोटे से पक्षी!" यह तुम्हारा प्रयत्न मूर्खता प्रगट करता है। पक्षी अपना हठ न छोड़कर साहस से अपना काम करता रहा। इसका साहस देखकर फिर और बहुत से पक्षी आए और कुशाग्र से पानी खींचना आरंभ किया। तत्पश्चात् पक्षिराज गरुड जी आए और उसके साहस पर मुग्ध होकर वे स्वयम् भी अपने पंखों से पानी को खींचना आरंभ कर दिया। इसी

प्रकार बहुत से विजातीय पक्षी भी वहां एकत्र हो गए और प्रयत्न में संलग्न हो गए।

इसी प्रकार खेद-रहित जब साधक मन का निग्रह करना आरंभ करता है, तब उसको गरुड के समान सहायक आकर इस मन के निरोध के काम में सहाय करते हैं। संसार में इतना कोई महान काम नहीं है, जितना मन का निरोध है। कितने ही शूर-वीर यहां पर हार मान गए हैं; परन्तु साधक साहस के साथ इस मन का निरोध कर सकता है। इस मन के निरोध के समान और कोई दूसरा काम इतना महत्त्व नहीं रखता है। इस मन के निरोध में क्या-क्या शक्तियां हैं, निरुपण नहीं कियी जा सकती। इस मन के निरोध से ही योग की अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं, पुनः इस निरोध से ही ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से परमानंद प्राप्त होता है।

यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥२३०॥

अर्थ : यथा—जैसे। **निरिंधनों**—लकड़ी के बिना। **वह्निः**—अग्नि। **स्वयोनाव**—अपने कारण में। **उपशाम्यति**—उपशम को प्राप्त होती है। **तथा**—वैसे ही। **वृत्ति**—वृत्ति के। **क्षयात्**—नाश होने पर। **चित्तं**—मन। **स्वयोनाव**—अपने कारण में। **उपशाम्यति**—उपशम को प्राप्त होता है।

टिप्पणी : मन वृत्तियों का एक भण्डार है। जब ये वृत्तियां शान्त होती हैं, तो मन नहीं रहता, जैसे लकड़ी के बिना अग्नि अपने कारण में लय हो जाती है। इसी प्रकार वृत्ति-रहित मन अपनी प्रकृति रूप कारण में लय हो जाती है।

वृत्तियों का भण्डार अथाह जल का एक सागर है और भण्डारक मन उसको तरंग के समान है। सागर की तरंगें सागर-जल के समान गुण-धर्म

को लिए स्वस्वरूप से तरंगित होती हैं और बारंबार उठती हुई तरंगों के गुण-धर्म में सजातीय कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु वृत्तियों की तरंगें अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप गुण-धर्म स्वरुपिणी उठती हैं—और मन स्वरूप बनकर हमें उसी की वृत्त्यात्मकता की ओर खींच ले जाती हैं और एक वृत्ति विषय के लोभ से संमोहित करके हमें अस्थिर बना देती हैं और हमें द्वैतात्मक पीड़ा होती है।

स्वयोनावुपशांतस्य मनसः सत्यकामिनः।

इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः॥ २३१॥

अर्थ : सत्य कामिनः—सत्य ब्रह्म को चाहने वाला। स्वयोनाव—अपने कारण में। उपशांतस्य—शान्त बने हुए। इन्द्रियार्थविमूढस्य—विषयों से विमुख। मनसः—मन को। कर्मवशानुगा—कर्मों से प्राप्त हुआ फल। अनृताः—झूठा होता है।

टिप्पणी : जिस साधक का मन निरोध की सीमा तक पहुंचा होगा, उसको स्वाभाविक विषयों से विमुखता प्राप्त होती है। कारण यह है कि मन अपने कारण में शान्त हुआ होता है। इस दशा में कर्मों के भोग का फल झूठा माना है। कर्मों के भोग का फल वास्तविक रूप से मन करता है और मन ही नहीं रहेगा तो भोग कौन करेगा?

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम्॥ २३२॥

अर्थ : हि—निश्चय करके। चित्तमेव—केवल मन। संसारः—संसार है। तत्—उस मन को। प्रयत्नेन्—पुष्कल यत्न से। शोधयेत्—शुद्ध

करना चाहिए। यच्चित्तः—जो कुछ मन है। तन्मयोमर्त्यो—वही रूप जीव है। एतत्—यह। गुह्यम्—रहस्य। सनातनम्—सदा की बात है।

टिप्पणी : मन ही मनुष्य है और इस स्थूल शरीर को त्याग करके हम मन को लेकर ही गमनागमन करते हैं। तात्विक विचार किया जाये तो यह संसार केवल मन है। यदि इस मन को प्रयत्न से शुद्ध किया जाये और सतोगुण रूप बनाया जाये तो सारा संसार सत्व-प्रधान होगा। यह एक रहस्य है, जिसका कोई विरोध नहीं कर सकता; चाहे वह किसी भी संप्रदाय या देश का हो। मनोवैज्ञानिक यह स्पष्ट रूप से बताते हैं "जो कुछ प्रतीत होता है, वह मन ही है।" यह मन प्रकृति का कार्य होने से—त्रिगुणात्मक हैं; अर्थात् सात्विक, राजसिक और तामसिक। जीव यह मन होने के कारण इन तीन गुणों के द्वारा सारे संसार को जांचता है। वास्तविक रूप से यह मन की कल्पना है। इस विषय का जितनी गंभीरता से विचार किया जाये, उतनी ही तात्विकता स्पष्ट होती है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २३३ ॥

अर्थ : हि—निश्चय करके। चित्तस्य—शुद्ध मन के। प्रसादेन—प्रसाद से अनुग्रह से। शुभाशुभ—पुण्य रूप और पाप रूप। कर्म हंति—कर्म नष्ट होते हैं। प्रसन्नात्मा—प्रसन्न मन। आत्मनि—चैतन्य आत्मा में। स्थित्वा—स्मरण करने से। अक्षयम्—अंत-रहित। सुखम—सुख। अश्नुते—भोगता है।

टिप्पणी : कर्मों के फल का मन ही भोक्ता है। जब मन शुद्ध हो गया; अर्थात् मोह से रहित हो गया तो पुण्य रूप और पाप रूप कर्मों के फल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। जब ये कर्म, जो बाधक हैं, नष्ट हो गए, तो सुख

की अनुभूति के लिए चैतन्य ब्रह्म का स्मरण करना उपयोगी है। इस चैतन्य ब्रह्म के विचार से परमानन्द सुख मिलता है। यह कहने की बात नहीं; अपितु करने की बात है। तत्पश्चात् ये भाव समझ में आता हैं।

समासक्तं यथा चित्तं जंतोर्विषय गोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बंधनात् ॥ २३४ ॥

अर्थ : **यथा**—जैसे। **जंतो**—जीवों का। **चित्तं**—मन। **विषय गोचरे**—विषयों के प्रति। **समासक्तं**—अच्छी तरह लगा है। **यद्येवं**—यदि ऐसा ही। **ब्रह्मणि**—चैतन्य ब्रह्म में। **स्यात्**—होता। **तत्को न**—फिर कौन नहीं। **बंधनात्**—संसार-बन्धन से। **मुच्येत**—मुक्त होता।

टिप्पणी : देखा गया है, कि ब्रह्म का चिन्तन गौड़ रूप से किया जाता है और सांसारिक विषयों की तरफ अनिवार्यत: ध्यान दिया जाता है। इसी कारण ग्रन्थकार का कथन है कि यदि जीवों का मन अनिवार्य रूप से ब्रह्म चैतन्य के चिन्तन में लग जाये तो संसार के बंधनों से कौन नहीं मुक्त हो सकता ? आधुनिक समय में कोई चैतन्य ब्रह्म-चिन्तन की ओर ध्यान नहीं देता है और यदि पुण्य कर्मों के प्रभाव से ब्रह्म-चिन्तन में मन लगाता है तो गौड़ रूप से लगाता है, तो भी आशा करता है, कि हमारे राग-द्वैष का नष्ट होना अनिवार्य रूप से ब्रह्म-चिन्तन करने से ही संभव है। जिस प्रकार विषयों की ओर जीवों का मन अनिवार्य रूप से लगा रहता है, यदि उसी प्रकार चैतन्य ब्रह्म-चिन्तन में मन लग जाये तो अवश्य ही जीवों को मुक्ति मिल सकती है।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ २३५ ॥

अर्थ : मनो हि—निश्चय करके मन को। **शुद्धं चाशुद्धं एवच**—शुद्ध और अशुद्ध ही। **द्विविधं**—दो प्रकार का। **प्रोक्तं**—कहा है। **अशुद्धं**—अशुद्ध। **कामसंपर्कात्**—कामना आदि के मैल से। **शुद्धं**—शुद्ध। **काम**—कामना आदि के। **विवर्जितम्**—बिना।

टिप्पणी : कामना करने से मन अशुद्ध हो जाता है। यदि फल-इच्छा के बिना कामना की जाये तो उसको कामना नहीं कहते हैं। आधुनिक समय में भिन्न-भिन्न रूप और जटिल कामनाएँ मन को अशुद्ध करती हैं और विक्षेप में डालती हैं। ऐसे मन से पारमार्थिक काम होना असंभव है। निष्काम कर्म करने से मन शुद्ध होता है अब यहां प्रश्न है कि निष्काम कर्म क्या होता है ? स्थूल रूप से देखा जाये तो कामना के बिना कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं। यदि वास्तविकता से देखा जाये तो हमारे समस्त कर्म कामना से प्रेरित होते हैं। कहने को तो हम कहते हैं कि हम निष्काम कर्म करते हैं, परन्तु जब शास्त्र-कृपा, गुरु-कृपा और आत्म-कृपा से हम देखें तो ये सब सकाम कर्म होते हैं। निष्काम कर्म करने से हम सुख-दुःख से रहित हो जाते हैं। निष्काम कर्म करने से हमें कोई द्वेष या लोभ या राग आदि उत्पन्न नहीं होते हैं। इस निष्काम कर्म का निर्णय स्वयं अपना मन ही कर सकता है। निष्काम कर्म देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न होता है। सकाम कर्म करते समय कितनी बार हम समझते हैं कि निष्काम कर्म किए, परन्तु निष्काम होता नहीं। इस विषय में पाठकों को गीता का भली प्रकार अध्ययन करके समझना चाहिए।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २३६ ॥

अर्थ : मन एव—मन ही। **मनुष्याणां**—मनुष्यों के। **बंधमोक्षयोः**—

बन्धन और मुक्ति का। कारणं—कारण है। बंधाय—बंधन के लिए। विषयासक्तं—विषयों में लगा हुआ। मुक्तयै—और मुक्ति के लिए। निर्विषयं—विषयों के बिना। स्मृतम्—कहा है।

टिप्पणी : कहा है, "मन के जीते जीत, मन के हारे हार।" समस्त द्वैत प्रपंच; अर्थात् हार-जीत बंध-मोक्ष, सुख-दुःख सब मन के ही संकल्प-विकल्प हैं। इस शास्त्र-पद में शुद्ध मन को विषय-रहित माना जाता है और अशुद्ध को कामना-युक्त माना है। यह चाह, जिसको कामना कहते हैं, के प्रति एक कवि ने कहा है—

चाह चमारणी, चाह चूडणी, चाह अति नीचन की नीच।

हम तो साक्षात् परब्रह्म थे, जो चाह न होती बीच।

भर्तृहरि ने कहा है—

"मनसस्य परितुष्टे, को अर्थवान्को दरिद्रः ?"

मन जब तुष्ट हो तो कौन धनी है और कौन निर्धन है ?

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदंतः करणेन गृह्यते ।। २३७ ।।

अर्थ : समाधि—समाधि से। निर्धूत—दूर किए हुए। मलस्य—मल से। चेतसो—मन को। आत्मनि—चैतन्य आत्मा में। निवेशितस्य—प्रवेश किए हुए को। यत्सुखं भवेत्—जो सुख होता है। गिरा तदा—वाणी उस समाधि-काल का। वर्णयितुं—वर्णन करने को। न शक्यते—समर्थ

नहीं है। स्वयं—स्वयं। तदंतः करणेन—उस समाधि के अन्तकरण से। गृह्यते—जाना जाता है।

टिप्पणी : सामान्यतः आनन्द का निरूपण करना इतना सुगम नहीं है। प्रत्येक आनन्द देश, काल और वस्तु के आधीन हैं। यदि दस पुरुष एक ही विषय-द्वारा आनंदित हों तो उनके आनन्द का भिन्न-भिन्न अनुभव होता है। जो तत्वतः उनका अन्तःकरण ही जानता है। फिर समाधि-काल के आनन्द का वर्णन करने में कौन समर्थ है ? इस शास्त्र-पद के अनुसार जब समाधि से अन्तः करण का मल-विक्षेप और आवरण दूर करके समाहित पुरुष अपने अन्तः करण को चैतन्य ब्रह्म में लगाता है, तो उसके आनन्द का निरूपण करना वेद की वाणी से भी संभव नहीं। उस आनन्द का स्वयं वह समाहित पुरुष अनुभव कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। समाधि-पद से यहां निर्विकल्प समाधि का उल्लेख है। अन्य त्रिपुटि आत्मक समाधियों का अर्थ नहीं समझना चाहिए। ऐसे शुद्ध अन्तः करण से जो ब्रह्म चैतन्य में लगाने से सुख-अनुभव होता है, वह सुख अगाध-अपार ब्रह्मानंद है।

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येवसर्वथा।
निश्चिते तु सुकृत्तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥२३८॥

अर्थ : अयम्—यह विद्वान। यो—जो। श्रद्धालुर—श्रद्धा-सहित। व्यसनी—आग्रह-सहित। अत्र—इस समाधि में। निश्चिनोत्येव—निश्चय करता है। सर्वथा—हर प्रकार से। सुकृत्तस्मिन्—एक बार भी उसको। निशिचते—निश्चय करता है। अन्यदापि—दूसरे समय भी। विश्वसित्य—विश्वास करता है।

टिप्पणी : जब साधक क्षणिक समाधि में भी उस ब्रह्मानंद के सुख का हर प्रकार से एक वार भी अनुभव करता है—उसको विश्वास होता है,

ब्रह्म आनन्द रूप है। इस क्षणिक स्वानुभूति के कारण इस समाधि में फिर जुड़ जाने के लिए यत्न करता है। ऐसा करने में राग और आग्रह की आवश्यकता है।

ताद्दक् पुमानुदासीनकालेप्यानंदवासनाम्।
उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः॥ २३६॥

अर्थ : **ताद्दक्**—वैसा। **तत्परः**—लगा हुआ; अर्थात् तत्पर। **पुमान**—पुरुष। **उदासीनकालेपि**—उदासीन काल में भी। **आनंदवासनां**—आनन्द की वासना को। **उपेक्ष्य**—छोड़ करके। **मुख्यमानंदं**—प्रधान आनंद को। **भावयत्येव**—भावना करता है।

टिप्पणी : जब किसी विषय का भोग जीव करता है, तब उस भोग से वासना उपजती है—यह सिद्धान्त है। इसी प्रकार आचार्य का कथन है कि जब क्षणिक आनन्द का समाधि में अनुभव करता है, तब व्यत्थान में उस आनन्द के भोग की वासना सदा रहती है और प्रयत्न करता है कि इस वासना रूपी आनन्द को त्याग करके मुख्य आनन्द में लीन हो जाऊं। अर्थात् समाधि आनन्द का उसको नशा सा हो जाता है; जैसे मद्यपान करने वालों को फिर से फिर पीने का नशा होता है।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृह कर्मणि।
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥२४०॥

अर्थ : परव्यसनिनी—पर पुरुष के राग-सहित। **नारी**—स्त्री। **गृह कर्मणि**—घर के काम-काज में। **व्यग्रापि**—लगी भी हो। **तदेव**—उस पर पुरुष की। **परसंगरसायनम्**—परस्पर संग रूपी रसायन को। **अन्तः**—अन्दर से। **आस्वादयते**—आस्वाद करती है।

टिप्पणी : यहां पर आचार्य जो दृष्टान्त देते हैं, वह नारी की सीमा

तक नहीं विचार करना चाहिए। पुरुष भी ऐसी दशा में वही करता है, जो नारी करती है। आचार्च का कथन है कि जब नारी पति से अन्य पुरुष के राग में होती है तो वह घर का व्यवहार हर प्रकार से ठीक करती है और घर का काम-काज करते समय उस पर पुरुष के संयोग से जो आनन्द आता था, उसका ध्यान करके अन्दर से आस्वाद लेती है; अर्थात् विशेष रूप से घर का काम-काज करती है और सामान्य रूप से पर संग रसायन का स्वाद लेती है। इसी प्रकार समाधि के क्षणिक आनन्द का अनुभव करके बाहर का व्यवहार भी करता है और अन्दर से आनन्द का आस्वाद भी लेता है। कोई गाने का कलाकार मोटर भी चलाता है और अन्दर से राग-ताल का आनन्द भी लेता है।

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः।
तदेवास्वाद यत्यंतर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥२४१॥

अर्थ : **एवं**—इसी प्रकार। **परेतत्त्वे**—श्रेष्ठ आत्म तत्त्व को। **शुद्धे**—जो शुद्ध है। **धीरो**—धीर विद्वान। **विश्रान्तिमागतः**—विश्राम को पहुँचा हुआ। **तदेव**—वही सुख। **आस्वादयत्यंतर**—अन्दर से आस्वाद करता है। **बहिर**—बाहर से। **व्यवहरन्नपि**—व्यवहार भी करता है।

टिप्पणी : उपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार आचार्य अब द्राष्टान्तिक से मिलाते हैं; अर्थात् धीर विद्वान पर तत्त्व को अनुभव करके भीतर से उस आनन्द का आस्वाद लेता है और बाहर से व्यवहार भी करता है। संसार के सब कार्य श्रमदायक होते हैं और इस विद्वान ने श्रम देने वाले सब सांसारिक कर्मों को छोड़ दिया है। इस लिए विश्रान्ति को प्राप्त हुआ है।

धीरत्वमक्षप्राबल्येप्यानंदास्वादवांछया।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चितायां प्रवर्तनम् ॥२४२॥

अर्थ : अक्षप्राबल्येपि—इन्द्रियों की प्रवलता होते हुए भी। **आनन्द**—आनन्द। **आस्वाद**—स्वाद करने की। **बांछया**—इच्छा से। **अखिलाक्षाणि**—समस्त इन्द्रियों को। **तिरस्कृत्य**—छोड़ कर। **तच्चितायां**—उस ब्रह्म के चिंतन में। **प्रवर्तनम्**—प्रवृत्त होना। **धीरत्वं**—धीर-भाव है।

टिप्पणी : अन्य जीवों के सदृश्य साधक को भी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों की ओर खींचती हैं, परन्तु इस साधक ने विषय-सुख से ऊपर किसी वस्तु का अनुभव किया होता है और इन सब इन्द्रिय और इन्द्रिय अर्थों को छोड़ कर आनन्द की इच्छा से ब्रह्म - चिंतन में लगा रहता है। वहां पर इसको विषयों के सुख से अधिक सुख प्रतीत होता है। इतना धैर्य और किसी में नहीं धारण करना पड़ता, जितना कि इन्द्रियों पर संयम करने में। कितने ही धीर-वीर विषयों को निरावरण देख कर संयमी बने नहीं रह सकते; विरल ही धीर-वीर कोई-कोई ऐसे होते हैं, जो संयमी बने रह जाते हैं। ऐसे ही विरल पुरुष को धीर कहते हैं।

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥२४३॥

अर्थ : भारवाही—बोझ को उठाने वाला। **शिरोभारं**—सिर का बोझ। **मुक्त्वा**—छोड़ कर। **आस्ते**—बैठा। **विश्रमं गतः**—विश्राम को प्राप्त होता है। **संसारव्यापृति**—संसार के व्यवहार को। **त्यागे**—त्याग देना। **तादृग्बुद्धिस्तु**—वैसी बुद्धि निश्चय ही। **विश्रमः**—विश्राम है।

टिप्पणी : भार उठाने वाला जब सिर पर से बोझ थकावट के कारण नीचे रखता है, तब विश्राम को प्राप्त होता है। इसी प्रकार संसार के व्यवहार का बोज जब मनुष्य त्याग देता है, तब ऐसी बुद्धि को विश्राम कहा जाता है। त्याग मन से होता है, न कि व्यवहार के त्यागने

से। साथ ही न तो साधु-वेश धारण करने से त्याग माना जाता है। साधारण पुरुष भी किसी वेष के बिना यदि संसार त्याग देने की बुद्धि रखता हो, तो उसे त्याग कहा जायेगा।

अविरोधि सुखे बुद्धिः स्वानंदे च गमागमौ।
कुर्वंत्यास्ते क्रमादेषा कांकाक्षिवदितस्ततः ॥२४४॥

अर्थ : बुद्धिः—बुद्धि। **स्वानंदे च**—अपने स्वरूप आनन्द में। **गमागमौ**—गमनागमन। **कुर्वंत्यास्ते**—करती है। **क्रमात्**—क्रम से। **एषा**—यह बुद्धि। **यतः ततः**—इधर-उधर। **काकाक्षवत्**—कौवे की आंख के सदृश्य।

टिप्पणी : विरोधी सुखों को जिनसे साधक का मन विक्षिप्त होता है, सर्वथा त्याग देना श्रेष्ठ होता है। इन विरोधी सुखों के अतिरिक्त साधक को अविरोधी सुखों का भी सामना करना पड़ता हैं, जैसे भजन, कीर्तन, कथा आदि होते हैं। ऐसे सुखों को भोगते समय यह विद्वान एक दृष्टि अविरोधी भोगों की तरफ रखता है और दूसरी दृष्टि स्वरूप आनन्द की तरफ रखता है। यह क्रम से होता है। कभी इधर और कभी उधर। जिस प्रकार कौवे की आंख कभी इधर, कभी उधर फिरती रहती है। कहते हैं, कौवे को एक ही दृष्टि होती है, परन्तु गोलक यानी आंख दो होती हैं। इसी कारण से कौवा देखने की दृष्टि कभी इस आंख से, कभी उस आंख से उपयोग में लाता है। इसी प्रकार विद्वान की अविरोध सुखों और स्वानंद के बीच बुद्धि फिरतो रहती है।

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथा पूर्वं यतो द्विदृक्।
गंगामग्नार्द्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥२४५॥

अर्थ : यथा पूर्वं—पहले के समान। **दुःखप्राप्तौ**—दुःख की प्राप्ति पर। **न चोद्वेगो**—उद्वेग नहीं करता। **यतो द्विदृक्**—(क्योंकि) दो दृष्टियां होती

हैं। गंगामग्नार्द्धकायस्य—गंगा में आधा शरीर रखे हुए। पुंसः—पुरुष को। शीतोष्णधीर्यथा—सर्दी और गर्मी का जैसे अनुभव होता है।

टिप्पणी : आध्यात्मक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख की प्राप्ति पर स्वभावतः मन विक्षिप्त होता है और उद्वेग करने लगता है, जैसे हे राम! हे भगवान्! अरे मां, अरे बाप, पुकारता है। दुखी को लगता है कि इससे मेरा दुःख कम होता है, परन्तु विद्वान के दुःख की प्राप्ति पर अनुभव तो होता है, पर चिल्लाता नहीं है। कारण यह है कि इस विद्वान को स्वरूप के आनन्द का भी अनुभव होता है, जैसे ग्रीष्म ऋतु में मनुष्य गंगा जी में दोपहर में खड़े होकर सर्दी और गर्मी दोनों का अनुभव करता है। ऊपर से सूर्य प्रचंड की गर्मी लगती है और नीचे से गंगा के शीतल जल का अनुभव होता है। यही उपमा विद्वान के दुःख-प्राप्ति पर घटित होती है।

"इति ब्रह्मानंदे योगानंदे प्रकरणम्"



* अथ ब्रह्मानंदे आत्मानंद प्रकरणम् *



पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजा।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥२४६॥

अर्थ : पतिर—पति। **जाया**—पत्नी। **पुत्र**—पुत्र। **वित्ते**—धन। **पशु**—पशु। **ब्राह्मण**—ब्राह्मण-भाव। **बाहुजा**—क्षत्रिय-भाव। **लोका**—देव-लोक आदि। **देवा**—देवता। **वेद**—वेद। **भूते**—पंच महा भूत। **सर्वं च**—सभी। **आत्मार्थतः**—अपने लिए। **प्रियम्**—प्यारे हैं।

टिप्पणी : यह विषय, समस्त दार्शनिकों तथा चिंतकों को सम्मत है, कि जीव को प्रत्येक पदार्थ अपने लिए ही प्रिय हैं। पत्नी को लगता है कि मैं जो अपने पति को प्रेम करती हूं, वह पति के लिए है। वास्तव में पत्नी पति को अपने लिए प्रेम करती है। इसी प्रकार समस्त प्राणी पुत्र, धन अन्य सम्पत्ति ब्रह्मणत्व, क्षत्रित्व, देवता, ब्रह्मलोक, पंच महा भूत; अर्थात् समस्त वस्तु अपने लिए ही प्रिय हैं। पिता पुत्र को कहता है, "मैं तुम्हें प्रेम करता हूं।" वास्तव में वह अपने लिए पुत्र को प्रेम करता है। यह एक अत्यन्त गंभीर विषय है, जिसे साधारण मनुष्य नहीं समझ पाते। यह स्थूल शरीर, जिसको हम अत्यन्त प्रेम करते हैं, भी कितनी परिस्थितियों में आत्म-घात करके अपने लिए छोड़ना पड़ता है। इसी से यह समझ में आता है, कि अपना आप शरीर नहीं, अपितु और कोई वस्तु है, जिसके लिए यह शरीर त्याग देना उचित मानता है। संक्षेपतः यह "अपनाआप" न तो स्थूल शरीर है, न तो सूक्ष्म शरीर है और न तो कारण शरीर है। यह "अपना आप" अन्तरात्मा है। इस पद्धति से यह स्पष्ट हो जाता है, और इसके ढूंढ़ने में ही सर्व आनन्द प्राप्त होता है।

श्मश्रुकंटकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।
चुंबत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥२४७॥

अर्थ : **श्मश्रुकंटक**--दाढ़ी के कांटों के। **वेधेन**—दुःख से। **बाले**—बालक। **रुदति**—रोता है। **तत्पिता**—उसका पिता। **चुंबत्येव**—चूमता ही है। **सा प्रीतिर**—वह प्रेम। **न बालार्थे**—बालक के लिए नहीं। **स्वार्थ एव सा**—अपने ही लिए वह प्रीति है।

टिप्पणी : यह प्रतिदिन की कहानी है कि हरेक पिता प्रेम-वश होकर बालक को गोद में उठा कर चूमना चाहता है और बालक पिता के दाढ़ी के

कांटों की वेदना से रोता है, तथापि उस बालक का पिता बालक को चूमता ही है। यह जो चूमना है, यह बालक के लिए नहीं है, अपितु यह चूमना पिता को अपने-आप को आनन्दित करने के लिए ही है, न कि बालक के लिए। इससे सिद्ध होता है कि अपने लिए ही सबको प्रेम किया जाता है। यही सिद्धान्त प्रत्येक स्थल पर लागू है।

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२४८॥

अर्थ : वैषयिके—विषय। **सुखे**—सुख। **प्रीतिमात्रम**—प्रीति मात्र हैं। **आत्मा**—अपना आत्मा। **तु अति प्रियः**—निश्चय करके अति प्रिय है। **येषा**—यह प्रीति विषय। **सुखे**—सुखों में। **व्यभिचरत्ये**—बदलती रहती है। **नात्मनि**—अपने आत्मा में नहीं। **व्यभिचारिणी**—बदलती। रहती।

टिप्पणी : प्रत्येक मनुष्य को विषयों में प्रीति होती है। यह प्रीति अपने आप के लिए ही होती है। अतः "अपना आप" अति प्रिय है। विषय सुखों में यह प्रीति परिवर्तनशील होती है; परन्तु अमने आप में प्रीति कभी भी नहीं व्यभिचरित होती। इसी कारण से ग्रन्थकार अपने आत्मा को अतिप्रिय कथन करते हैं। उपरोक्त श्लोकों में यह निरूपण किया गया, कि सांसारिक वस्तु सब अपने लिए प्रिय हैं। यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है।

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम ॥२४९॥

अर्थ : सदा—नित। **वैषयिकं**—विषय। **सुखं**—सुख। **एकमत्यक्त्वा**—एक छोड़ कर। **अन्य आदत्ते**—दूसरा पकड़ते हैं। **आत्म**—अपना आप। **न त्याज्यो**—नहीं छोड़ा जा सकता है। **न चाद्येयः**—न पकड़ा जा सकता है। **तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम्**—उसमें यह प्रीति कैसे बदलेगी ?

टिप्पणी : विषय सुखों में प्रीति बदलती रहती है। जब एक विषय से तृप्ति होती है, तब दूसरे विषय को मनुष्य चाहता है। प्रत्येक विषय परिमित होता है। भोग भी इन विषयों का परिमित होता है। पर "अपने आप" को आकाश के समान अपरिमित होने के कारण न तो छोड़ा जा सकता है और न तो पकड़ा जा सकता है। यह सदा एक रस रहता है। बहुत से अनीश्वरवादी भगवान की स्थिति को नहीं मानते हैं। "अपने आप" को अवश्य मानते हैं। उन्हें हम कहते हैं, कि यह अपना आप ही भगवान है। "अपना आप भगवान" ढूंढ़ना यह उनका कार्य है।

हानादानविहीनेस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥२५०॥

अर्थ : हानादान विहीनेस्मिन्न—इस पकड़ और छोड़ रहित आत्मा। **उपेक्षा।चेत्तृणादिवत्**—मार्ग-तृण जैसी उपेक्षा यदि कहोगे। **उपेक्षितु**—उपेक्षा करने वाले का। **स्वरूपत्वात्**—स्वरूप होने के कारण। **न ओपेक्ष्यत्वं**—उपेक्षा नहीं हो सकती। **निजात्मनः**—अपने आप की।

टिप्पणी : उपरोक्त श्लोक में आचार्य अपने आत्मा के प्रति कहते हैं, कि यह न तो छोड़ा जा सकता है और न तो पकड़ा जा सकता है। इस पर पूर्व पक्षी आक्षेप करते हैं, ऐसी वस्तु मार्ग तृण के समान उपेक्षा योग्य होगी। जो वस्तु न तो ग्राह्य हो, न तो त्याज्य हो उसको उपेक्षा कहते हैं। इसी कारणवश पूर्व पक्षी कहते हैं कि यह "अपना आप" उपेक्षा योग्य होगा। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि उपेक्षा करने वाले का स्वरूप होने के कारण अपने आप से उपेक्षा नहीं हो सकती।

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥२५१॥

अर्थ : क्वचित्—कहीं कहीं । **रोगक्रोधाभिभूतानां**—रोग या क्रोध से अभिभूत हुए मनुष्य का । **मुमूर्षा वीक्ष्यते**—मरने की इच्छा देखने में आयी है । **ततोद्वेषाद्भवेत्**—इस लिए यह द्वेष से होता है । **त्याज्य**—त्यागने योग्य । **आत्मा**—अपना आप । **इति**—ऐसा है । **यदि तत् नहि**—ऐसा यदि कहोगे तो वह नहीं है ।

टिप्पणी : पूर्व पक्षी पूछते हैं कि आप आत्मा को न तो त्याज्य मानते हैं । और न तो ग्राह्य मानते हैं । परन्तु कभी कभी ऐसा देखने में आया है कि रोग से या क्रोध से दबा हुआ मनुष्य मरना चाहता है । इस कारण से यह आत्म त्याज्य सिद्ध होता है । आचार्य उत्तर देते हैं—हे पूर्व पक्षी ! यदि तुम ऐसा कहोगे तो वह बात नहीं है ।

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ॥
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषास्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२५२॥

अर्थ : त्युक्तुं—छोड़ने । **योग्यस्य**—योग्य । **देहस्य**—शरीर को । **नात्मता**—आत्मता नहीं है । **त्यक्तुरेव सा**—वह आत्मता छोड़ने वाले को है । **नत्यक्तर्यस्ति**—इस लिए छोड़ने वाले के प्रति नहीं है । **स द्वेषः**—वह वैर । **त्याज्ये द्वेषे**—त्याग करने योग्य जो शरीर है । **तु का क्षतिः**—उसमें क्या हानि है ।

टिप्पणी : कई बार देखा गया है कि कुछ परिस्थितियों में मनुष्य विष-पान करते हैं, रेल के नीचे सो जाते हैं अथवा पानी में डूबना चाहते हैं—इन सब को हम आत्म घात समझते हैं । यह आत्म घात नहीं होता; अपितु शरीर घात होता है । यह "अपना आप" जो कुछ भी है, उसको बचाने के लिए यह शरीर घात किया जाता है । इस लिए आचार्य पूर्व

पक्षी को उत्तर देते है—यह आत्मा शरीर नहीं है, जो त्यागकर्त्ता आत्मा है, वह अलग है। इस लिए यदि शरीर का त्याग किया तो उसमें क्या हानि है ?

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यातिप्रियः।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥२५३॥

अर्थ : सर्वस्य—सबमें। **प्रीते**—प्रेम। **आत्मार्थत्वेन**—अपने लिए होने के कारण। **आत्मा हि**—यह अपना आप। **अति प्रियः**—अति प्रिय है। **सिद्धो**—यह सिद्ध है। **यथा**—जैसे। **पुत्रमित्रात्पुत्रः**—पुत्र के मित्र से अपना पुत्र। **प्रियतरस्तथा**—अधिक प्रिय है वैसे ही।

टिप्पणी : अपने आप में अधिक प्रेम होने की उपमा देते हैं, जैसे पुत्र के मित्र से अपना पुत्र अधिक प्रिय होता है। वैसे सिद्ध हुआ अपना आप सबसे अधिक प्रिय है।

मा न भूव महं किं तु भूयासं सर्वदेत्य सौ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥२५४॥

अर्थ : मा न भूवमहं—मेरा न होना न हो। **किंतु**—अपितु। **भूयासं**—मैं हूं-मैं रहों। **सर्वदा**—नित। **इति**—ऐसा। **असौ आशीः**—यह आशीर्वाद। **सर्वस्य**—हरेक में। **दृष्टेति**—दिखायी देता है। **प्रत्यक्षा**—यह प्रत्यक्ष है। **प्रीतिरात्मनि**—प्रीति अपने आप में है।

टिप्पणी : यह अदृश्यमान चाहत प्रत्येक प्राणी में रहती है कि मैं रहूं और मेरा न होना न हो। इसी कारण से आत्म रक्षा हर प्रकार से करता है। और ऐसा आशीर्वाद हरेक में स्थित है, चाहे वह ऐसा माने, न माने। यह अपना आप अति प्रिय होने का प्रमाण है।

कहते है, जब एक बार बाढ़ आ गई तो एक बंदरी अपने बच्चे लेकर ऊँचें स्थान पर चली गई। जब वहाँ पर भी पानी पहुँचा तो एक वृक्ष पर चली गई। पानी उससे ऊँचा होने लगा तो अपने आप को बचाने के लिए पहले एक बच्चें को अपने पांवों के नीचे दबाया और फिर दूसरे बच्चे को। इससे सिद्ध हुआ कि बंदरी को बच्चों से भी अधिक अपना आप प्यारा था। आत्म रक्षा स्वाभविक ही है।

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापाय भासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥२५५॥

अर्थ : जागर—जागृत। **स्वप्न**—स्वप्न। **सुप्तीनाम**—सुषुप्ति की। **आगमापाय**—उत्पत्ति और नाश। **यतो भवत्य**—जिससे। **भासनम्**—दिखाई देता है। **असवआत्म**—यही आत्मा। **स्वप्रकाश**—स्वयं प्रकाश। **चिदात्मक**—चिदात्मक है।

टिप्पणी : जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति का अनुभव यह अन्तरात्मा ही करता है। जागृत में अन्तः करण की वृत्ति इन्द्रियों के द्वारा और स्वप्न में मन की वृत्ति से और सुषुप्ति में अविद्या की वृत्ति से यह चैतन्य रूप अंतरात्मा अनुभव करता है। इसका स्वयं प्रकाश होने के कारण इस अंतरात्मा को अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतः विद्ध है। इस लिए इसको स्व प्रकाश और चैतन्य रूप माना है।

शेषाः प्राणादिवित्तांता आसन्नास्तारतम्यतः।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥२५६॥

अर्थ : शेषाः—शेष; अर्थात् आत्मा के बिना। **प्राणादिवित्तांतां**—प्राणादि से लेकर धन तक। **तारतम्यात**—क्रम से। **आसन्ना**—समीप है (इस आत्मा के)।

तथा—वैसे ही। प्रीति—प्रेम भी। तारतम्यात्—क्रम से। तेषु—उन पदार्थों में। सर्वेषु वीक्ष्यते—(यह) सब लोक जनों में देखते हैं।

टिप्पणी : जो वस्तु इस आत्मा के जितने समीप है, उसमें क्रम से उतना ही प्रेम होता है, जैसे अपने घर के प्राणियों को दूसरे घर के प्राणियों से अधिक प्रेम होता है और घर में भी नौकर से रिश्तेदार और रिश्तेदार से परिवार तारतम्य से प्यारे होते हैं। यह प्रसिद्ध वार्ता सब लोक जनों में देखते हैं।

वत्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिंडः पिंडात्तथेंद्रियम ।
इंद्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥२५७॥

अर्थ : वित्तात्—धन से। पुत्रः प्रियः—पुत्र प्यारा होता है। पुत्रात्पिडः—पुत्र से अपना शरीर। तथा—वैसे ही। पिंडात्—शरीर से। इन्द्रियम—इन्द्रिय। इंद्रियाच्च—इन्द्रियों से भी। प्रियः प्राणा—प्राण प्रिय हैं। प्राणादात्मा—प्राणों से आत्मा। परः प्रियः—उत्कृष्ट प्रिय है।

टिप्पणी : जीव पुत्र को किसी विक्षेप में देखकर उस पर धन बलिदान करता है और इसी पुत्र को जिस पर इतना धन बलिदान किया अपने शरीर को बचाने के लिए दूर फेंकता है। जब इस शरीर पर जिसे पुत्र से भी प्यारा कहा गया, कोई लाठी से आक्रमण करता है तो बाज़ू उठा कर अपने आंख, नाक, कान, इन्द्रियों को बचाना चाहता है। यदि इन्द्रियों में कोई रोग होता है, तो इन्द्रियों को छोड़कर प्राण बचाने लगता है और प्राणों की भी बाज़ी आत्म घात में लगाता है। जब विचार पूर्वक देखते हैं तो सिद्ध होता है, चैतन्य रूप अन्तरात्मा सबसे प्रिय है। इस चैतन्य रूप आत्मा के निकटवर्ती प्राण, इन्द्रिय, शरीर तारतम्य से निकट होते हैं। इसी प्रकार धन, पुत्र आदि में विचार करना चाहिए जो जितना इस चैतन्य रूप आत्मा

के निकट होता है, वह उतना ही प्यारा होता है और चैतन्य रूप—"अपना आप' सबसे प्यारा होता है।

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥२५८॥

अर्थ : चिरम्—बहुत देर तक। **तनय**—पुत्र। **अलभ्यमान**—न प्राप्त हुआ हो। **पितरौ**—माता पिता। **क्लेशयेत्**—कष्ट उठाते हैं। **लब्धोपि**—प्राप्त हुआ हो (गर्भ में)। **गर्भ पातेन**—गर्भ पात से। **प्रसवेन च**—या प्रसूति से। **बाधते**—बाधा करते हैं।

जातस्य ग्रह रोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पंडिते ॥२५९॥

अर्थ : जातस्य—पैदा हुए को। **ग्रह रोगादि**—ग्रहों की पीड़ा। **कुमारस्य च**—कुमार की। **मूर्खता**—मूर्खता। **उपनीतेप्य**—यज्ञोपवीत होने पर। **अविद्वत्तम्**—विद्या-हीन होता हैं। **अनुद्वाहश्च**—शादी नहीं होती है। **पंडिते**—यदि पढ़ा लिखा भी हो।

यूनश्च परदारादि दारिध्र च कुटुंबिनः ॥
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यंतो धनी चेन्म्रियते तदा ॥२६०॥

अर्थ : यूनश्च—यौवन में। **परदारादि**—दूसरों की स्त्री आदि के पीछे लगा रहता है। **दारिध्रच**—दरिद्र होता। **कुटुंबिन**—जब कुटुंबी हो। **पित्रोर्दुःखस्य**—माता पिता के दुःखों का। **नास्त्यंतों**—कोई अन्त नहीं है। **धनी चेत्**—यदि धनवान होगा। **म्रियते तदा**—फिर मर जाता है।

टिप्पणी : उपरोक्त तीन शलोल ग्रन्थकार ने पुत्र के प्रति वैराग्य उत्पन्न

करने के लिए कहे हैं। जो यह दोष-दर्शण पुत्र के प्रति व्यक्त किया है, वह भी एक पक्ष है यहाँ आचार्य को पुत्र में वैराग्य प्रस्तुत करना है।

जब माता पिता को कुछ दिनों या कुछ वर्षों तक पुत्र संभावना नहीं होती है तो बहुत क्लेश मनाते हैं और भिन्न भिन्न उपाय करते हैं ; अर्थात् न होने पर भी यह पुत्र दुःख देता है। यदि गर्भाधान हुआ भी और आशा बंध गई कि पुत्र होगा, तब भी गर्भ पात होने का और प्रसूति होने का भय लगा रहता है। यदि पुत्र उत्पन्न हो गया भी तब भी उसकी भिन्न-भिन्न मूर्खताएं क्लेश देती हैं। तत्पश्चात् माता पिता उसका उपनयन करते हैं; परन्तु वह विद्याहीन रहता है। यदि विद्या का पूरी तरह अध्ययन करता है। तो यथा योग्य विवाह उसका नहीं होता और माता पिता क्लेश करते हैं। यौवन अवस्था में यह पुत्र दूसरे की स्त्रियों और लड़कीयों के पीछे पीछे चक्कर काटता हैं और माता पिता को क्लेश पहुँचाता है। यदि हर प्रकार से सुशील हो, विद्याध्ययन भी किया हो, विवाहित हो तो परिवार नियोजन के बिना वह कुटुम्टुब ग्रस्त हो कर दरिद्र हो जाता है। मान भी लें कि वह हर प्रकार से धनी होगा तो मर जाता है, अतः पुत्र में माता पिता के दुःखों का कोई अन्त नहीं है।

यहां पर आचार्य पुत्र जैसे प्रिप वस्तु की ओर वैराग्य जनक दृश्य खींचते हैं। कारण यह है कि पुत्र जैसी वस्तुओं से हमारा ध्यना टल जाय। यह संक्षेप में इसका निर्णय हैं।

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥२६१॥

अर्थ : **एवं**—इसी प्रकार। **विविच्य**—विचार करके। **पुत्रादो**—पुत्र आदि में। **प्रीति**—प्रेम। **त्यक्त्वा**—छोड़ कर। **निजात्मनि**—अपने

स्वरूप आत्मा में। **परमां प्रीतिं**—उत्तम प्रीति। **निश्चित्य**—निश्चित करके। **तम**—उस स्वरूप को। **अहर्निशम्**—दिन रात। **वीक्षते**—देखता है।

टिप्पणी :—ऊपर के श्लोकों में निरूपण किए वैराग्य को जब साधक पुत्र, धन, स्त्री, घर बार के प्रति विचार करता है, तो स्वाभाविक रूप से उन प्रिय वस्तुओं में मन नहीं रमता। फल स्वरूप परम प्रेमरूप अपनी आत्मा को दिन रात अनुभव करता है। यह सारा काम मानो मरण तुल्य होता है। आवश्यकता भी ऐसे ही वैराग्य की है। आज कल के कोई कोई संन्यासी महन्त आदि शठ दर्शनी होने पर भी शिष्य परा शिष्य मठ मन्दिरों में समस्त समय बिताते हैं। उनको आत्म चिन्तन तथा आत्म लाभ कैसे हो सकता है? दिन रात राग द्वेष में ग्रस्त रहते हैं। वे अपने आप को जीवन मुक्त समझते हैं। वास्तव में वे जीवन मुक्त नहीं हैं। अपितु ऐसे अशुद्ध व्यवहार करते हैं, जो रात दिन समाचार पत्रों में छपा रहता है। इसी कारण से समाज में इन महन्तों और महात्माओं में प्रीति नहीं रही।

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रिय मुत्तमम्।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥२६२॥

अर्थ : यस्तु—जो। **साक्षिणमात्मानं**—साक्षी रूप आत्मा को। **प्रियमुत्तमम्**—जो पर प्रेमास्पद है। **सेवते**—(जो) सेवन करता है। **तस्य**—उसको। **प्रेयान**—अति प्रिय। **असव आत्मा**—यह आत्मा। **कदाचन**—कभी भी। **न नश्यति**—नहीं छोड़ता।

टिप्पणी : यह संसार में प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि यदि आप किसी को शुद्ध प्रेम करते हैं तो वह व्यक्ति आप के शुद्ध प्रेम से प्रभावित होकर आप को प्रेम अवश्य करता है। इस सच्चे प्रेम के कारण यह साधक चुम्बक होकर परम प्रेम रूप आत्मा को अपनी तरफ खींचता है। इसी प्रकार आचार्य

का कथन है, जो इस साक्षी रूप और पर प्रेमास्पद आत्मा का भजन करता है, वह आत्मा इस भजनी को कदापि नहीं नष्ट करता है, अर्थात् छोड़ता है।

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द रूपता।
सुख वृद्धिः प्रीति वृद्धौ सार्वभौमादिषुश्रुता ॥२६३॥

अर्थ : परप्रेमास्पदत्वने—सबसे उत्तम प्रेम का आश्रय होने से। **परमानंदरूपता**—परमानंद रूप है। **सुख वृद्दीः**—सुख की अधिकता से। **प्रति वृद्दि**—प्रेम की अधिकता को। **सार्वभौमादिषु**—चक्रवर्ती राजा के प्रति। **श्रुता**—सुना है।

टिप्पणी : यह लौकिक सिद्धान्त है, जो वस्तु जितनी सुख दायक होती है, उससे उतना ही प्रेम होता है। सुख और प्रेम में कार्य कारण भाव है। अर्थात् सुख कारण है और प्रेम कार्य है। आनन्द और प्रेम में घनिष्ठ संबंध है। इसकी उपमा आचार्य चक्रवर्ती राजा से देते हैं। चक्रवर्ती राजा को समस्त मानुषानंद प्राप्त होते हैं। इसी कारण से उस राज्य में उस को प्रीति होती है। प्रीति जहां होती है, वहां अवश्य आनन्द होगा। उसको अपने आप से इतना प्रेम होने के कारण प्रीती होती है कि वह अपना आप आनंद रूप है। उपनिषदों में पितृ-लोक, देव-लोक, ब्रह्म-लोक आदि के आनंदों का वर्णन किया हुआ है।

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोत्र तिरस्कृतः ॥२६४॥

अर्थ :—चित्सुखैक्यं—चैतन्य स्वरूप और आनन्द का ऐक्य। **सत्त्ववृत्तौ**—सतो गुण वृत्ति में है। **तद्धत्तेर**—वह वृत्ति। **निर्मलत्वतः**—निर्मल होने के कारण। **रजोवृत्तेस्तु**—रजो गुण की वृत्ति। **मालिन्यात्**—मल समेत

होने के कारण। सुखांशोत्र—वहाँ आनन्द का भाग। तिरस्कृतः—दबा हुआ होता है।

टिप्पणी : चैतन्य स्वरूप अपने आप का आनन्द सतो गुण वृत्ति में मिलता है। अतः कारण कि वृत्तियां त्रिगुणात्मक है; अर्थात् सतो गुण, रजो गुण और तमोगुण ये वृत्तियाँ मिश्रित रहती हैं। जहां सतोगगु की मात्रा अधिक होती है, वहां सत्तोगुण वृत्ति कहते हैं। अन्य दोगुण; अर्थात् रजो गुण और तमोगुण लेश मात्रा में होते हैं। यही सिद्धान्त अन्य दो वृत्तियों में भी है। जिसका निर्णय गीता के १७वें अध्याय में किया गया है। चित्त और आनन्द का अनुभव सतोगुण वृत्ति में होता है। रजो गुण वृत्ति में नहीं होता। वहां चैतन्य मात्रा होती है। कारण यह है कि रजोगुण वृत्ति में तमो गुण रूप मल अधिक होता है, वहां आनन्द की उपलब्धि नहीं होती है।

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यम पश्यतः ॥२६५॥

अर्थ : प्रेयानात्मा—अति प्रिय आत्मा है। इति—ऐसा। जानतः—जानने वाले को। विषयेष्व—विषयों में। प्रीतिर—प्रेम। न अस्ति—नहीं होता है। प्रातिकूल्यम—प्रतिकूलता। अपश्यत्—देखने वाले को। कुतो राग—(फिर) राग कहाँ? कुतोद्वेषः—द्वेष कहां?

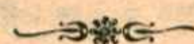
टिप्पणी : जब साधक यह अनुभव करता है कि सबसे प्रेम करने योग्य पदार्थ "अपना आप" है तब वह उसमें रमा रहता है। सांसारिक विषय उसको तुच्छ प्रतीत होते हैं। यह सिद्धान्त है, जब मनुष्य अधिक प्रेम प्रधान करने वाली वस्तु को जानता है, तब न्यून सुख-प्रदायक पदार्थों की उपेक्षा करता है। इसको सुख की यात्रा कहते हैं। बालक प्रथम माता

के स्तनों में सुख अनुभव करता था, तत्पश्चात् गुल्ली-डंडा, पुस्तकें और पत्नी में अधिक-अधिक प्रेम करता है; अर्थात् जो प्रेम स्तनों में था, वह यात्रा करते-करते बीबी-बच्चों अदि में पाता है। जब सबसे उत्कृष्ट प्रेम अपने स्वरूप में पाता है तो और विषयों के प्रति प्रेम नहीं रहता। प्रेम के अभाव में प्रतिकूलता होने के कारण राग-द्वेष मिट जाते हैं।

"इति ब्रह्मानंदे आत्मानंद प्रकरणम्"



* अथ ब्रह्मानंदे अद्वैतानन्दः प्रकरणम् *



आनंदादेव तज्जातं तिष्ठत्यानंद एव तत्।
आनंद एव लीनं चेत्युक्तानंदात्कथं पृथक् ॥२६६॥

अर्थ : **तत्**--वह जगत। **आनंदादेव**--आनंद से ही। **जातं**—पैदा होता है। **तत्**—वह जगत। **आनन्द एव**--आनन्द में ही। **तिष्ठति**—स्थित है। **आनंद एव**—आनन्द में। **लीनं चे**—लीन होता है। **इति-उक्त्वा**—इस कहने से। **आनंदात्**—आनंद से। **पृथक् कथं**—कैसे पृथक हो सकता है यह जगत?

टिप्पणी : यह जगत ब्रह्म रूप सिद्ध करने के लिए तैत्तिरीय उपनिषद् का प्रमाण देते हैं। ब्रह्म आनन्द रूप है और यह जगत भी आनन्द रूप है; अर्थात् आनन्द से इसकी उत्पत्ति होती है और यह जगत आनन्द में ही स्थित है और यह लीन भी आनन्द में ही होता है। इस कारण इस जगत

को ब्रह्म से कैसे पृथक माना जाता है ? इसकी व्याख्या हम पहले ही ब्रह्मानन्द योगानन्द प्रकरण के २०८ श्लोक में कर चुके हैं।

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा।
प्रतिबंधस्य दृष्टत्वाच्छक्त्याभावे तु कस्य सः ॥२६७॥

अर्थ : शक्ति—शक्ति। शक्तात्—शक्तिमान से। पृथक—भिन्न। **नास्ति**—नहीं है। तद्वत्—वैसे। **अभिधा च**—अभेद भी। नदृष्टेर—नहीं दीखता। **प्रति बंधस्य**—शक्ति का प्रतिबंध। दृष्टत्वात—देखने में आने से। **शक्त्यभावे**—शक्ति के अभाव में। तु **कस्य सः**—वह प्रतिबन्ध किसमें है ?

टिप्पणी : जगत की प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी शक्ति होती है। जड़ शक्ति और चैतन्य शक्ति प्रत्येक शक्ति शक्तिमान के आश्रित होती है। शक्तिमान और शक्ति में अभेद है। अर्थात् यह नहीं हो सकता है कि शक्तिमान एक स्थान पर हो और शक्ति दूसरे स्थान पर। जैसे गायक की शक्ति को एक देश-काल में रक्खें और दूसरे देश-काल में उसका गाना हो। इससे प्रतीत हुआ कि शक्ति और शक्तिमान में अभेद है। यह दृश्यमान अभेद होते हुए भी शक्ति शक्तिमान से अलग है। अग्नि में दाहक शक्ति है। उस अग्नि की दहन शक्ति को मनि, मंत्र, महौषधि, से प्रतिबंधित कर सकते है। अर्थात् दाहक शक्ति जला नहीं सकती है। अगिन स्थित है। आचार्य यहां पर शक्ति और शक्तिमान को भिन्न भी मानते हैं और अभिन्न भी मानते हैं। जिससे अनिर्वचनीय शब्द को प्रयोग में लाया जाता है।

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबंधनम्।
ज्वलतोग्नेरदाहे स्यान्मत्रादि प्रतिबंधता ॥२६८॥

अर्थ : शक्तेः—शक्ति। **कार्यानुमेयत्वात्**—कार्य से अनुमान होती है। **अकर्ये**—कार्य रहित। **प्रति बंधनम्**— प्रतिबन्ध प्रतीत होता है। ज्वलत्व— जलती। **अग्नेर**—अग्नि। **अदाहे स्यात्**—जला नहीं सकती। **मंत्रादि**— मंत्र महौषधि अदि। **प्रतिबंधता**—प्रतिबंध के कारण।

टिप्पणी : शक्ति अनुभव नहीं की जाती है, अनुमान की जाती है। हम शक्ति और शक्तिकार्य को एक समझते हैं। वास्तव में शक्ति अलग है और शक्ति-कार्य अलग। शक्ति-कार्य से हम शक्ति का अनुमान कर सकते हैं। यह शक्ति अवांग मनस्य गम्य है, जैसे चैतन्य ब्रह्म है। अग्नि की दाहक शक्ति को नहीं देख सकते हैं। हम अगिन को देख सकते हैं। इस शक्ति को मनि, मंत्र, महौषधि, से तिरोदान कर सकते हैं। शक्ति मान ब्रह्म और माया शक्ति गीता के अनुसार—अव्यक्त हैं। अ० ८ श्लोक २० :—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन्।
परास्य शक्तिर्विविधा क्रिया ज्ञान बलात्मिका ॥२६६॥

अर्थ : देवात्मशक्ति—आत्म देव की शक्ति। **स्वगुणैर्निगूढां**—अपने सत, रज, तम गुणों से छिपी है। **मुनयो**—मुनीश्वर लोग इसको। **अविदन**—जानते है। **परास्य**—इस परमेश्वर की उत्कृष्ट। **शक्ति**—शक्ति। **विविधा**—नाना प्रकार की है। **क्रिया**— क्रिया-शक्ति। **ज्ञान**—ज्ञान-शक्ति। **बलात्मिका**— इच्छा-शक्ति।

टिप्पणी : इस वेद के मंत्र में आत्म देव की शक्ति को छिपा हुआ माना है। यह मनीश्वर लोग अपने ध्यान में जानते हैं। इस आत्म देव की शक्ति के कार्य सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण है; जो नाना प्रकार की क्रिया शक्ति, ज्ञान शक्ति और इच्छा शक्ति में परिणत हो कर समस्त जड़-चेतन जगत को

निर्माण करती हैं यह शक्ति अपने तीन गुणों से ढकी रहती है और इसको पराशक्ति कहते हैं। जो आत्मदेव के समान अव्यक्त है।

फलपत्रलतापुषप शाखाविटप मूलवान् ।

ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥२७०॥

अर्थ : **फल**—फल । **पत्र**—पत्र । **लता**—लता । **पुष्प**—फूल । **शाखा**—शाखा । **विटप**—टहनियां । **मूलवान**—मूल सहित । **यथा**—जैसे । **वृक्ष**—वृक्ष । **ननु बीजे**—छोटे से बीज में है । **तथेदं**—वैसे ही यह जगत । **ब्रह्मणि**—चैतन्य ब्रह्म में । **स्थितम्**—टिका हुआ है ।

टिप्पी : अब उपमा देकर समझाते हैं कि यह जगत कैसे चैतन्य ब्रह्म में स्थित है । एक छोटे से बीज में क्या-क्या विस्तार है । वह आचार्य ने श्लोक में दिखाया है । यह सारा ब्रह्मांड आत्म देव में छुपा हुआ है । जिसको आज तक न किसी ने समझा है और न समझ सकेगा । आज कल के वैज्ञानिक इस जगत के कुछ अंशों को निरूपण करते हैं, परन्तु यह नहीं बता सकते हैं कि यह सारा क्यों ? अर्थात् कैसे वे बता सकते हैं, परन्तु क्यों नहीं बता सकते हैं इस ब्रह्मांड में जो-जो नई-नई बातें प्रमाणित होती हैं, वे इस महामाया का एक अणु मात्र हैं ।

क्वचित्काश्चित्कदाचिच्च तस्माद्युद्यंति शक्तयः ।

देशकाल विचित्रत्वात्क्ष्मातलादिव शालयः ॥२७१॥

अर्थ : **क्वचित**—कहीं पर । **काञ्चित**—कोई । **कदाचिच्च**—कभी भी । **शक्तय**—शक्तियां । **तस्मातउद्यति**—उस ब्रह्म से उदय होती हैं । **देशकाल**—देश-काल के । **विचित्रत्वात्**—विचित्रहोने से । **क्षमातलादिव**—पृथ्वी से जैसे । **शालय**—शाली उगती है ।

टिप्पणी : इस चैतन्य ब्रह्म की शक्तियां देश-काल के अनुसार कभी किसी जगह प्रकट होती हैं। जैसे--पृथ्वी एक रूप होने से भी शाली हर स्थान पर नहीं उगती और न तो हर समय में इन शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। शक्तिमान की इच्छानुसार देश, काल, वस्तु से यह परिच्छिन्न हैं।

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदित महावपुः।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥२७२॥

अर्थ : राम—हे राम जी ! **स आत्मा**—वह ब्रह्म। **सर्वगो**—सर्व व्यापक है। **नित्योदित**—सब काल में प्रकाशमान है। **महावपु**--बड़े स्वरूप वाला है। **यन्मनाक**—जो थोड़ी सी। **मननी**—मनन करने की। **शक्ति धत्ते**—शक्ति धारण करता है। **तत् मन उच्यते**--उसको मन कहते है।

टिप्पणी : जहां पर चैतन्य ब्रह्म का स्मरण आता है, वहां उपाधि-सहित ब्रह्म समझना चाहिए। अर्थात् यह ब्रह्म माया शक्ति के समेत होता है। यह ब्रह्म सर्व व्यापक और सदा प्रकाशमान; बहुत बड़े स्वरूप वाला जब थोड़ी सी मनन शक्ति धारण करता है तो उसको मन कहा जाता है। यह मन भी माया शक्ति का कार्य है। महामुनि ने "बाशिष्ठ" में श्रीराम चन्द्र जी को उपदेश किया है।

आदौ मनस्तदनु बंध विमोक्ष दृष्टि।
पश्चात्प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ॥
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठां।
आख्यायिका सुभगबालजनोदितेव ॥२७३॥

अर्थ : आदौ मन—पहले मन होता है। **तदनु**—उसके पीछे। **बंध-विमोक्षदृष्टी**—बंध और मुक्ति की दृष्टि होती है। **भुवनाभिधाना**—भुवन

नाम वाले। पञ्चात्प्रपंचरचना—फिर प्रपंच की रचना, । **इत्यादिका**—इसी तरह। **स्थितिरियं**—यह मर्यादा। **हि गत प्रतिष्ठां**—निश्चय ही प्रतिष्ठा को पहुंचा । **सुभगबालजनो**—सुन्दर बालकों की । **आख्यायिका**—कहानी। **उदितवे**—उदय को प्राप्त हुए जैसे।

टिप्पणी : भारतीय साहित्य में बशिष्ठ मुनि का रचा हुआ "बाशिष्ठ" ग्रन्थ एक अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। महामुनि बशिष्ठ जी के विचार के अनुसार सब मन की रचना है। उनका विचार है—पहले मन उत्पन्न किया गया, तत्पश्चात् बंध और मुक्ति की दृष्टि उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् यह मन ही भुवनात्मक रचना का विकल्प करता है। इसी प्रकार यह संसार की मर्यादा स्थिरता को प्राप्त कर गई, जैसे सुन्दर बालकों को माता मनोरंजन के लिए एक लघु कथा सुनाती है और बालक इस कथा को सत्य मान कर उस पर निश्चय करते हैं।

माता अपने बालकों को कहती है—तीन राजकुमार हुए। उनमें से दो का जन्म ही नहीं हुआ और एक गर्भ में प्रतिष्ठित नहीं हुआ। यही बालक आकाश में बहुत से वृक्ष देखने लगे और मृगया को वहां आकाश-वन में जाकर मृगया करने लगे। बालकों ने इस कथा को सच मान कर निश्चय किया कि वे तीन राजकुमार कोई थे। आकाश में वृक्ष थे। वास्तव में न तो वे कोई राजकुमार थे, न तो आकाश में कोई वृक्ष ही हो सकते हैं।

इसी प्रकार बशिष्ठ जी के मतानुसार प्रथम मन की कल्पना होती है और पश्चात् यह मन बंध, मुक्ति के चक्कर में फंस कर संसार रचना की कल्पना करता है। बशिष्ठ जी की विचारधारा है, न तो मन है, न बंध-मोक्ष है, और न तो संसार की रचना है। यदि इस मन को वापिस खींचा जाय तो न कोई शास्त्र है, न गुरु है और न जगत है। एक मात्र चैतन्य

ब्रह्म शेष रहता है। यह परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए इस मन को शास्त्रोक्त उपायों से नष्ट करना है, यह वास्तविक बात है।

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटांगारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥२७४॥

अर्थ : **कार्यादाश्रयतश्चैषा**—कार्य से, आश्रय से यह। **शक्ति**—शक्ति। **विलक्षणा**—विलक्षण। **भवेत्**—होती है। **स्फोटांगारौ**—छाला और जलते कोयले। **दृश्यमानौ**—दिखाई देते हैं। **शक्ति**—अग्नि की शक्ति। **तत्र**—उससे। **अनुमीयते**—अनुमान की जा सकती है।

टिप्पणी : साधारतया शक्ति कार्य को शक्ति माना जाता है, परन्तु यहां गंभीर रहस्य है। शक्ति कार्य कुछ और है और शक्ति कुछ और है। यह शक्ति आश्रय से और कार्य से विलक्षण है। इसको आचार्य सुन्दर उपमा से व्यक्त करते हैं। जलती हुई अग्नि के साथ यदि हमारा कोई अंग लगता है तो छाला पड़ जाता है। इस छाले से अग्नि की दाहक शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। इस अग्नि का आश्रय जलते अंगारे हैं। हम छाले को और अंगारों को देख सकते हैं, परन्तु अग्नि की दाहक शक्ति का अनुमान करते हैं। यह दाहक शक्ति न तो जलते अंगारों के सदृश्य है और न छाले के सदृश्य है। जलते हुए अंगारे इस दाहक शक्ति के आश्रय हैं और छाला शक्ति का कार्य है। शक्ति शक्तिमान ब्रह्म के भिन्न-अभिन्न होने के कारण अनुमान की जा सकती है, न कि अनुभव की जा सकती है।

न व्यक्ते पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।
आदावंते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥२७५॥

अर्थ : **न व्यक्ते**—न प्रकट होने से। **पूर्वम्**—पहले (यह)। **अस्त्येव**—है ही नहीं। **न पश्चात् अपि**—नहीं पीछे। **नाशतः**—नाश से। **आदावंते च**—

पहले और पीछे। यन्नास्ति—जो नहीं है। वर्तमानेऽपि—वर्तमान में भी। तत्तथा—वह वैसा ही है।

टिप्पणी : जो उत्पत्ति से पहले न था और नाश के पीछे न होगा, वह वर्तमान में भी न होने के बराबर है। यह विचार स्थूल रूप से सत्य प्रतीत होता है—जगत के जितने पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति और नाश सहित हैं। बीच में, अर्थात् वर्तमान में प्रतीत होते हैं। जो पहले न था और पीछे न होगा, वह वर्तमान में भी चल-चित्र के समान है। यदि विचार किया जाय तो समस्त वस्तुओं के प्रति यह सिद्धान्त लागू होता है। इस विचार से हमको वर्तमान शरीर आदि में ऐसा ही प्रेम रखना चाहिए, जैसा हम चल-चित्र से प्रेम रखते हैं। यह विचार गीता के दूसरे अध्याय के २८वें श्लोक में भगवान ने स्पष्ट किया है।

अनेकधा विभिन्नेषु नामरुपेषु चैकधा।
तिष्ठंति सच्चिदानंदा विसंवादो न कस्यचित् ॥२७६॥

अर्थ : अनेकधा—अनेक प्रकार से। विभिन्नेषु—भिन्न-भिन्न पदार्थों में। नाम रूपेषु च—नाम और रूप वाले पदार्थों में। एकधा—एक ही प्रकार से। सच्चिदानंदा—सच्चिदानंद। तिष्ठंति—टिका हुआ है। विसंवादो—संशय। कस्यचित् न—किसी को इसमें नहीं।

टिप्पणी : नाम रूपात्मक पदार्थ संसार में अनेक हैं और भिन्न हैं। ये नाम और रूप और साअंत हैं। इन नाम रूपों का कोई न कोई आश्रय अवश्य मानना पड़ेगा। जहां से ये नाम रूप उत्पन्न होते हैं और जिसमें ये नाम रूप लय होते हैं। वेदान्त की परिभाषा में इसको अधिष्ठान माना है। अनीश्वरवादी भी यह स्वीकार करते हैं। ये नाम रूप वाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। कहां से यह उत्पत्ति और नाश

हुआ ? भले उनको इसमें संदेह हो अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से इसका समाधान न कर सकें तो, वह और बात है। परन्तु इन पदार्थों की उत्पत्ति और नाश का वे निराकरण नहीं कर सकते। वेदान्त की दृष्टि से ये भिन्न भिन्न नाम रूपात्मक पदार्थ एक ही सच्चिदानंद रूप अधिष्ठान में टिके हुए हैं।

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते।

बुद्धया ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥२७७॥

अर्थ : निस्तत्त्वे—कल्पना किए हुए और स्वरूप के बिना। **जन्मनाशयुते**—उत्पत्ति और नाश वाले। **ते नाम रूपे द्वे**—वे दोनों नाम और रूप। **बुद्धया**—बुद्धि से। **ब्रह्मणि**—परम ब्रह्म में। **वीक्षस्व**—देखो। **समुद्रे**—समुद्र में। **बुदबुदादिवत्**—बुदबुदाओं और लहरों के सदृश।

टिप्पणी : वेदान्ती मानते हैं कि इस प्रपंच का आधार पांच अंगों पर नियमित हैं। अर्थात् अस्तितता, भात्तिता, प्रियता, नाम और रूप इसमें से तीन अंशों को परब्रह्म का स्वरूप माना है और दो अंशों को कल्पित माना है। अस्तितता, प्रियता और भात्तिता ब्रह्म का स्वरूप है। नाम और रूप कल्पित माना है। अस्तितता, प्रियता और भात्तिता की व्याख्या इस प्रकार है—अस्तितता—यह है, भात्तिता—अनुभव होता है। प्रियता—इनमें प्रेम स्थित है। नाम और रूप उत्पत्ति और नाश वाले होने से कल्पित माना है। इस लिए आचार्य शिक्षा करते हैं कि बुद्धि से इन कल्पित और स्वरूप बिना नाम रूपों को परब्रह्म का रूप ही विचार करना चाहिए। जैसे—समुद्र में बुदबुदें और लहरें जलरूप ही होती हैं।

सच्चिदानंदरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।

स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥२७८॥

अर्थ : अस्मिन—इस । **सच्चिदानंदरूपे**—सच्चिदानंदरूप । **पूर्णे ब्रह्मणि**—पूर्ण ब्रह्म को । **वीक्षिते**—साक्षात्कार किया हो । **शनैः शनैः**—धीरे धीरे । **स्वयमेव**—आप ही । **नामरूपे**—नाम-रूप को । **अवजानाति**—तिरस्कार करता है ।

टिप्पणी : मुख देखने वाले दर्पण का यदि शीशा ही देखा जाये तो हम अपने अंगों को नहीं देख सकते हैं । जब हम दर्पण को उठाते हैं तो शीशे को भूल कर अपने अंगों को देखते हैं । इस उपमा में दर्पण का शीशा परब्रह्म के सदृश्य है और अपने मुख की नाम रूपात्मक जगत से तुलना की है । इसी प्रकार जब ज्ञानवान ने सच्चिदानंद ब्रह्म का साक्षात्कार किया हो तो वह धीरे धीरे नाम रूपात्मक पदार्थों की तरफ ध्यान नहीं देता । यह शनैः शनैः अभ्यास करने से होता है और दर्पण की उपमा से बुद्धि में आ जाता है कि यह संभव है ।

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ।
यावद्यावद्वीक्षते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत ॥२७६॥

अर्थ : यावत् यावत्—जितना जितना । **अवज्ञास्यात्**—नाम रूप का तिरस्कार होगा । **तावत् तावत्**—उतना उतना । **तदीक्षणम्**—उस पर ब्रह्म को देखता है । **यावत् यावत्**—जितना जितना । **तत्**—उस परब्रह्म को । **वीक्षते**—देखता है । **तावत् तावत्**—उतना उतना । **उभे**—दोनों नाम रूप को । **त्यजेत्**—छोड़ता है ।

टिप्पणी : इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट है । अभ्यास से जिस जिस मात्रा में उस परब्रह्म को देखता है, उसी उसी मात्रा में नाम रूपात्मक द्वैत को छोड़ता है । अथवा जितना जितना नाम रूप छोड़ता है, उतना उतना उस परब्रह्म को देखता है ।

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥२८०॥

अर्थ : तदभ्यासेन—उस ब्रह्म अभ्यास से । **विद्यायां**—ज्ञान । **सुस्थितायां**—सुदृढ़ हुआ हो । **अयम पुमान्**—यह पुरुष । **जीवन्नेव**—जीते जी ही । **मुक्तो**—मुक्त । **भवेत्**—होता है । **वपुर**—शरीर । **यथा तथा**—जैसे-तैसे । **अस्तु**—रहे ।

टिप्पणी : ब्रह्म अभ्यास करते करते यदि साक्षात्कार हुआ हो तो उस पुरुष को जीवन मुक्त कहते हैं । जीवन मुक्त को न तो संचित कर्म रहते हैं और न तो आगामी कर्म होते हैं । प्रारब्ध कर्म इस जीवन मुक्त का भोगने से समाप्त होता है ।

अन्य जीवों को संचित प्रारब्ध और आगाम्य कर्म शास्त्रों ने माने हैं । संचित कर्म, वे कर्म भंडार हैं, जो जीवों ने जन्मान्तरों से संचित कर रक्खे हैं । इस संचित कर्म रूपी भंडार से जो सुख दुःख रूपी फल हमको इस शरीर में मिलता है । उसको प्रारब्ध कर्म कहते हैं । जो कर्म प्रारब्ध कर्म भोगते भोगते किये जाते हैं, उनको आगाम्य कर्म शास्त्रों ने माना है । प्रारब्ध कर्म से यह शरीर सुख दुःख भोगता है, जिस पर किसी का नियंत्रण नहीं हो सकता । इस सुख दुःख के भोगने में जो कर्म किए जाते हैं, उनके फल की तरफ इस जीवन मुक्त का कोई ध्यान नहीं रहता । वे यंत्रवत् काम करते हैं । अतः आचार्य कहते हैं कि जब ब्रह्म अभ्यास से दृढ़ ज्ञान प्राप्त होता है तो ऐसे पुरुष को जीवन मुक्त कहते हैं, शरीर चाहे जैसा तैसा हो । परन्तु ज्ञान दृढ़ ज्ञान होना चाहिए, अदृढ़ ज्ञान नहीं होना चाहिए । अदृढ़ ज्ञानी को जिस मात्रा में दृढ़ता प्राप्त हुई हो, उसी मात्रा में वह शरीर के सुख दुःख से प्रभावित होता है । अर्थात् जीवन मुक्ति मात्रा परिमाण से जीवों को होती है । किसी को अधिक और किसी को कम । पूर्णतया

जीवन मुक्त की भी अवस्थाएं शास्त्रों में निरूपण की गई हैं। मनोनाश के पश्चात् पदार्थाभाविनी रूप सातवीं कक्षा शास्त्रों ने माना है। यह अन्तिम अवस्था है जीवन मुक्त की। जब जीवन मुक्त प्रारब्ध का पिण्ड यह शरीर छोड़ता है तो उसको विदेह मुक्त कहते हैं। तात्विक दृष्टि से देखा जाये तो यह सब कुछ मनो कल्पित है और भिन्न भिन्न मनुष्यों की विचार धाराओं के अनुसार शास्त्रों ने निरूपण किया है। वास्तव में ज्ञान, ज्ञान ही है और अज्ञान, अज्ञान है।

वासनानेककालीना दीर्घं कालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥२८१॥

अर्थ : अनेककालीना—अनेक काल की। **वासना**—वासना। **दीर्घं कालं**—बहुत देर। **निरंतरम्**—प्रतिदिन। **सादरं च**—और आदर सहित। **भ्यस्यमाने**—अभ्यास करने से। **सर्वथैव**—हर प्रकार से। **निवर्तते**—दूर होती है।

टिप्पणी : वासना मन में छुपी रहती है और यह वासना भी भावी जन्म का कारण हो सकती है। ज्ञानवान इस वासना से भी निर्वासन होना चाहता है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं, यदि ब्रह्माभ्यास चिरकाल पर्यन्त निरन्तर आदर सहित किया जाये तो यह वासना हर प्रकार से दूर हो सकती है। किसी रोग की निवृत्ति के लिए हमें औषधि पर आदर होना चाहिए और लगातार इसका सेवन करने से रोग की निवृत्ति होती है। जीव के विचार में यह वासना बड़ा महत्वपूर्ण भाग रखती है। यदि जागृत में हम किसी विषय का निरोध करते है तो वासना के कारण उसको स्वप्न में भोगते हैं। इस कारण से वासना का नाश बहुत गंभीर माना है। यदि किसी पात्र में केसर रक्खी हो और केसर को निकालने पर भी उसमें केसर की सूक्ष्म बास रहती है। वासना का शब्द "बास" से निकलता है। इस कारण से इस वासना का नाश बहुत प्रकार से करना उचित है।

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घट स्वप्नकारिणी ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यंतकारिणी ॥२८२॥

अर्थ : यथा—जैसे । **जीवे**—जीव की । **निद्रा शक्ति**—नींद रूपी शक्ति । **दुर्घट**—कष्ट से समझने वाली । **स्वप्नकारिणी**—स्वप्न करने वाली होती है । **एषा**—यह । **ब्रह्मणि स्थिता**—ब्रह्म में स्थिर हुई । **माया**—माया शक्ति । **सृष्टिस्थित्यंतकारिणी**—सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाली होती है ।

टिप्पणी : चैतन्य ब्रह्म में स्थित माया शक्ति समझ में नहीं आ सकती है । कहां से सृष्टि हुई ? कैसे स्थिति हुई ? संहार क्यों हुआ ? ये घटनाएं जीव की बुद्धि से न समझी जा सकने वाली हैं । यह माया शक्ति का स्वरूप है; अर्थात् "कैसे और क्यों" कोई जीव न तो आज तक समझ सका और न तो आगे समझेगा । ग्रन्थकार का कथन है, जीव की निद्रा शक्ति में ऐसे ऐसे स्वप्न बहुत कष्ट से भी निरूपण नहीं किए जा सकते हैं । इसी प्रकार माया शक्ति का यह चमत्कार जीव की बुद्धि के बाहर है । माया शक्ति के चमत्कार प्रतिदिन देखने में आते हैं; किसी तर्क वितर्क के बिना एक कंगाल को राजा बना दिया और राजा को कंगाल बना दिया । ऐसी प्रतिदिन कितनी ही घटनाएं दृश्यमान होती हैं, जिनका समाधान करना जीव की बुद्धि से बाहर है; अर्थात् कठिन ही नहीं, प्रत्युत असंभव है ।

वैज्ञानिक लोग आज कल दूर आकाश में काले छिद्र यंत्रों से देखते हैं और बुद्धि में नहीं आता है कि वह छिद्र क्यों है ? और उनके आगे कौन सी वस्तु है ? यह एक संकेत रूप में हमने बता दिया । वास्तव में ऐसी कितनी घटनाएं हैं, जो जीव आज तक समझ न पाया । यदि कुछ समझा भी तो वह अधूरा समझा । भूकम्प क्यों आते हैं ? बाढ़ें क्यों आती हैं ? सूखे क्यों पड़ते हैं ? अनेक ऐसे प्रश्न नहीं समझे जा सकते हैं । और माया-शक्ति स्वीकार करनी पड़ती है ।

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत्स्वमूर्द्धच्छेदनं यथा ।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥२८३॥

अर्थ : वियद्गतिं—आकाश गमन । **स्वमूर्द्धः**—अपने शिर के । **च्छेदनं यथा**—काटने जैसा । **मुहूर्ते**—एक क्षण में । **वत्सरौघं च**—वर्षों का समूह भी । **मृत पुत्रादिकं**—मरे हुए पुत्र आदि को । **पुनः पश्येत**—फिर से देखता है ।

टिप्पणी : स्वपन में मनुष्य विचित्र लीलाएँ देखता है, जिनके प्रति कोई तर्क से कुछ सिद्द नहीं होता है । यह क्यों हुआ ? कैसे हुआ ? कुछ जीव की समझ में नहीं आता । स्वपन में आकाश में गमन कभी कभी देखा जाता है । कभी अपने शिर को कटा हुआ देखता है । कभी एक क्षण में वर्षों का व्यवहार देखता है । कभी अपने मरे हुए, पुत्र आदि संबंधियों को जीवित देखता है यह संकेत के तौर पर बताया गया । वास्तव में अनोखे अनोखे स्वपन देखे जाते हैं ।

एक राजा अपनी शय्या पर लेटा हुआ अपने अंग रक्षकों से रक्षित अपने को एक कुत्ते के काटने का स्वपन देखता है और राजा को ध्यान आता है कि इसमें एक ताँबे का पैसा और अंजन लगाना सुना है । उसको एक पैसा और अंजन नहीं मिलता और ढूंढता ढूंढता फिरता है । इतने में करवट बदलता है और स्वपन टूट जाता है । अब यहां कहां राजा खज़ानों का मालिक और कहां कुत्ता ? अंग रक्षकों से रक्षित किए हुए शरीर को कुत्ता काट कर गया । अब इस स्वप्न को सिद्द करने में कौन सा तर्क वितर्क हम कर सकते हैं । अर्थात् यह जीव बुद्दि द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता ।

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।
यथायथेक्ष्यते यद्यत्तत्तयुक्तं तथा तथा ॥२८४॥

अर्थ : तत्र—वहां उस स्वप्न में । **इदं युक्तं इदं नेति**—यह समीचीन है,

यह नहीं है कि। **व्यवस्था**—मर्यादा। **दुर्लभा**—कठिन है। **यथायथेक्ष्यते**—जैसे जैसे देखता है। **यत्त यत्त** —जो जो। **तत तत**—वह वह। **युक्तं**—समीचीन है। **तथातथा**—वैसेवैसे।

टिप्पणी : कितने ही महा पुरष कहते हैं कि स्वप्न झूठा था, उसमें तर्क वितर्क करने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु यह जागृत में आकर कहते हैं। स्वप्न में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो वस्तु जैसी जैसी देखी, वैसे वैसे ही उसको समीचीन समझता गया। कभी कभी स्वप्न में भी स्वप्न देखता है और यह वहां संशय नहीं होता कि यह कैसे हुआ ? अतः श्रेष्ठ ग्रन्थकार का कहना है कि स्वप्न काल में जो कुछ देखा वह हर प्रकार से ठीक है। स्वप्न के विचित्र और असमीचीन होने का हमको जागृत में अनुभव होता है। स्वप्न काल में नहीं।

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।
माया शक्तेरचिंत्योयं महिमेति किमद्भुतम् ॥२८५॥

अर्थ : यदा—जब। **ईदृशो**—ऐसी। **महिमा**—महिमा। **निद्राशक्ते**—निद्रा शक्ति में। **दृष्टो**—देखी गई। **तदा**—फिर। **माया शक्तरे**—माया शक्ति जो। **अचिंत्यो**—चिन्तन नहीं की जा सकती है। **अयम्**—यह। **महिमोति**—महिमा ऐसा। **किम्**—क्या। **अम्दुतम्**—आश्चर्य है।

टिप्पणी : कई तार्किक यह तर्क करते हैं कि निद्र शक्ति में यह महिमा है, जो ऊपर निरूपण की गई। उनको आचार्य कहते हैं कि जब निद्रा शक्ति में यह महिमा संभव समझते हैं, तब माया शक्ति जो अचित्य है—की ऐसी महिमा क्यों स्वीकार नहीं करते हैं ? इसमें क्या कारण है ?

इस जगत के भिन्न भिन्न विषयों पर अनेकों प्रकार से गंभीर विचार किया जाता है, पर बुद्धि से सब कुछ नहीं समझा जाता। अतः वेदांती इस

जगत को माया शक्ति का परिणाम समझते हैं। इस में कोई तर्क से सिद्द नहीं कर सकता कि स्वप्न झूठा है और जागृत सच्चा है। प्रत्युत वेदान्त के दार्शनिक मानते हैं कि इस स्वप्न का कोई न कोई देश-काले है। जागृत का कोई देश काल ही नहीं है। यह जागृत कब आरंभ हुआ, क्यों हुआ ? किस देश में हुआ ? यह कोई निर्णय नहीं कर सकता। अतः वेदान्त वादियों का जागृत का स्वप्न के साथ तुलना करना—समीचीन प्रतीत होता है। जब स्वप्न से मनुष्य जागता है, तब स्वपन को झूठा समझता है। इसी प्रकार जब ज्ञान की अवस्था में ज्ञानी जागृत होता है तो उसको यह जागृत स्वप्न ही प्रतीत होता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं।

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकासन्कल्पयत्यसौ ॥२८६॥

अर्थ : शयाने—सोये हुए। पुरषे—पुरषों को। निद्र—नींद। बहुविधं—बहुत प्रकार के। स्वप्नं—स्वप्न। सृजते—उत्पन्न करती है। एवम्—इसी प्रकार। निर्पिकारे—विकार रहित। ब्न्हण्ये—ब्रह्म को। असौ—यह माया। विकारान—विकारों को। कल्पते—कल्पना करती है।

टिप्पणी : प्रतिवादी पूछते हैं,। निर्विकार ब्रह्म में यह विकार रूपी जगत कैसा समीचीन लगता है। ग्रन्थकार कहते हैं, सोये हुए पूरष को बिस्तरे में जैसे विकार प्रतीत होते हैं। वास्तव में जागृत भी कल्पना है और स्वप्न भी कल्पना है। अतः यह कहना कि निर्विकार ब्रह्म में विकार कैसे उत्पन्न हुआ, युक्त नहीं है। वह ब्रह्म निर्विकार है और माया शक्ति सहित होने के कारण यह विकार न तो ब्रह्म में है और न तो माया में है। यह माया शक्ति के कार्य में है। साधक यह समझ लेता है तो जगत बुद्दि भी त्याग करके स्वयं भी कुछ है, जो निरूपण नहीं किया जा सकता। नेति नेति करके जब प्रत्येक ज्ञान

अज्ञान को छोड़ कर एक ऐसी अवस्था होती है, जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता। परन्तु वह अवस्था है।

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानंदलक्षणम्।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक्-पृथक् ॥२८७॥

अर्थ : ब्रह्म—ब्रह्म। **समानं**—समान है। **नामरूपे**—नाम रूप। **पृथक-पृथक**—भिन्न भिन्न। **भिद्यते**—भेद को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी : कभी कभी ऐसा विचार आता है, भवत : यह सच्चिदानंद रूप ब्रह्म जड़ में भिन्न है और चेतन में भिन्न है, पर ऐसी बात नहीं है। जड़ चेतन नाम रूप वाले पदार्थ भिन्न भिन्न हैं, परन्तु सच्चिदानंद रूप ब्रह्म अधिष्ठान रूप से एक ही है। यह जो जड़ चेतन बिभाग है, यह त्रिगुात्मक माया शक्ति कार्य का है। तमः प्रधान माया शक्ति जड़ रूप में परिणत होती है और सत् रूप माया शक्ति चैतन्य रूप में परिणत होती है। शुद्द सत्व में ईश्वर का प्रतिबिंब माना हैं और मलिन सत्व में जीव का प्रतिबिंब कल्पना की है। सतो गुण की शुद्दता और अशुद्दता और दो गुणों के अधिकता और न्युनता से प्रकट है।

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत्।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥२८८॥

अर्थ : सहस्रशो—हजारों। **मनो राज्ये**—मनो राज। **वर्तमाने**—होते हैं। **सदैय**—सदा ही। **यद्वत्**—जैसे। **तन सर्वै**—वह सव। **उपेक्ष्यते**—उपेक्षा करते है। **उपेक्षा**—उपेक्षा करनी चाहिए। **नामरूपयो**—नाम रूप की।

टिप्पणी : यह प्रसिद्द है, प्रत्येक जीव मनोराज करता है; अर्थात् मन के संकल्प विकल्प में फिरता रहता है। उनको व्यक्त नहीं करता, अपितु

उनका तिरस्कार करके छोड़ देता है। यदि उन मनोरजों को व्यक्त करे तो उसको पागल समझा जाएगा। इसी प्रकार आचार्य का कथन है कि यदि हम मनोराजों को छोड़ देते हैं इसी प्रकार नाम और रूप को छोड़ना उचित है। जब नाम और रूप को छोड़ देंगे तो अवश्य सच्चिदानंद ब्रह्म का स्वरूप हमको दीखेगा। इसी नाम रूप के अन्दर सब राग द्वेष है। इसी राग द्वेष से हम दु:खी सुखी होते रहते हैं। यह बड़े यत्न की बात है कि नाम रूप से हम ऊपर उठें। इस अभ्यास का जो सुख रूप परिणाम् होता है, वह न तो लेखनी से लिखा जाता है और न तो मुख से निरूपण किया जा सकता है। यह अनुभव करने वाली गंभीर चेष्टा है।

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथान्यथा।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥२८९॥

अर्थ : क्षणे क्षणे—प्रत्येक क्षण में। **अन्यथा अन्यथा**—उल्टे पुल्टे। **मनोराज्यं**—मन के संकल्प विकल्प। **भवत्येव**—होते हैं। **गतं गतं**—जो गए हैं। **पुनर्नास्ति**—वे फिर से नहीं आते। **बहिस्तथा**—बहार का। **व्यवहारो**—व्यवहार वैसा ही है।

टिप्पणी : ज्ञानी का बाहर व्यवहार मनोराज के सदृश्य आचार्य मानते हैं। जैसे मनोराज्य असत्य होते हैं, वैसे ज्ञानी का बाह्य व्यवहार उसको असत्य प्रतीत होता है। जैसे पहले निरूपण किया गया। ये मनोराज भी प्रतिक्षण में उल्टे-पुल्टे होते हैं। ज्ञानवान का बाह्य व्यवहार उल्टे-पुल्टे होने से उसको कोई आश्चर्य नहीं होता।

संसार के व्यवहार देखे जाएँ तो सब उल्टे-पुल्टे होते हैं। समाचार पत्रों में ऐसी बहुत सी घटनाएँ आती हैं जिनका कोई नियमित रूप से सोचा भी नहीं जा सकता।

एक खान के मजदूर को दस रुपये के चंज में लाटरी का एक टिकट दे दिया। मजदूर ने लाचारी से यह टिकट रक्खा। कुछ दिनों बाद इसी लाटरी के टिकट पर ढाई लाख का पुरस्कार निकला।

ऐसी ऐसी घटनाएँ देख कर ज्ञानी को कोई आश्चर्य नहीं होता। वह यह मनोराज के सदृश्य मानता है। जो एक क्षण का मनोराज्य चला जाता है तो दूसरे क्षण में दूसरी जाति का मनोराज्य आता है ऐसी ही बुद्धि उसकी नाम रूपआत्मक व्यवहार पर होती है।

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥२९०॥

अर्थ : न बाल्यं—बाल्यावस्था नहीं। **यौवने**—यौवन में। **लभ्यं**—पाई जाती है। **यौवनं**—युवा अवस्था। **स्थाविरे**—बुढ़ापे में। **तथा**—वैसे ही। **मृतः पिता**—मारा हुआ पिता। **पुनर्नास्ति**—फिर नहीं होता है। **नायात्येव**—नहीं फिर आता है। **गतं दिनम्**—गया हुआ दिन।

टिप्पणी : जिस प्रकार एक मनोराज्य के पश्चात् दूसरा मनोराज्य होता है और वह पहला मनोराज्य उसी प्रकार फिर से नहीं होता है, उसी प्रकार आचार्य जहाँ तात्विक उपमा देते हैं, अर्थात् बालक अवस्था युवा में नहीं होती और युवा अवस्था वृद्धा में नहीं पाई जाती। मरा हुआ पिता फिर से नहीं होता और गया हुआ दिन फिर नहीं आता है।

इस उपमा से प्रतीत होता है कि जो वस्तु चली गई, वह फिर से नहीं आती है। इसी कारण से जगत को क्षणभंगुर माना है। यह जगत प्रवाह रूप से चलता है, जैसे नदी का जल ऊपर नहीं आ सकता।

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके।
अतोऽस्मिन भासमानेपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥२९१॥

अर्थ : **क्षणध्वंसिनि**—क्षण मात्रा में नाश होने वाले। **लौकिके**—लौकिक पदार्थों की। **मनोराजात्**—मनोराज्य से। **विशेष : कः**—अन्तर क्या है ? **अतो स्मिन्**—इसीलिये यह पदार्थ। **भासमानेपि**—यदि दिखाई भी देते हैं। **तत्**—उन पदार्थों की। **सत्यत्वधियं**—सत्यता बुद्धि। **त्यजेत्**—छोड़नी चाहिए।
टिप्पणी : गम्भीर रूप से देखा जाए तो ये जगत की वस्तु प्रति क्षण बदलती जाती। सामान्यतः ऐसा प्रतीत नहीं होता है परन्तु नियम ऐसा ही है। नदी के जल के प्रवाह रूप के सदृश्य यह पदार्थ बदलते जाते हैं। देश, काल प्रति क्षण बदलता जातु है। इस कारण से इसको क्षण-ध्वंसिनि आचर्य कहते हैं।

यह नगर, पहाड़, नदियाँ, लोकजन जो हमको एक से प्रतीत होते हैं, तर्क दृष्टि से देखा जाए तो वे एक से नहीं होते हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है। भोगोलिक विद्वावानों ने हिमालया जैसे अचल पर्वत को स्वीकार किया है कि यह वैसा नहीं रहा, जैसा हमको प्रतीत होता है। जब यह परिवर्तनशीलता हिमालय जैसे अचल वस्तु में विज्ञान से मानी जाती है तो अन्य छोटे छोटे पदार्थों की तो बात ही क्या है।

इसी कारण आचार्य का कथन है कि क्षण-क्षण में परिवर्तनशीलता पदार्थों में मनोराज्य से क्या अन्तर है ? अतः यदि ये भासते भी हैं तो भी इनकी सत्यत्व बुद्धि का त्याग करना चाहिए। सत्य वह वस्तु होती है जो तीन काल में एक रस रहती है।

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिंतने।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥२९२॥

अर्थ : **लौकिके**—लौकिक पदार्थ। **उपक्षिते**—जब उपेक्षा किए हों। **धी**—बुद्धि। **निर्विघ्न**—विघ्न रहित। **ब्रह्मचिंतने**—ब्रह्म चिंतत में लगती है। **नटवत्**—नट की तरह। **लौकिकम्**—लौकिक पदार्थों में। **कृत्रिम-**

आस्थायां—झूठी आस्था। निर्वहत्येव—सिद्ध होती हैं।

टिप्पणी : विचारवान जब गम्भीरता से विचार करता है तब लौकिक पदार्थों को छोड़कर निर्विघ्न रूप से बुद्धि को ब्रह्मचिंतन में लगाता है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये विद्वान कैसे बह्य व्यवहार, खाना पीना आदि करते हैं। इसके उत्तर में आचार्य निरूपण करते हैं कि ये विचारवान नट के सदृश्य सब बाह्य व्यवहार करते हैं।

एक बहुरूपिया नट राजा के पास जाकर कुछ भिक्षा मांगने लगा। राजा ने कुछ भिक्षा दे दी परन्तु प्रतिज्ञा की कि यदि तुम मुझे कुछ ऐसा वेश दिखाओगे, जो मैं न समझ सकूं तो तुम्हें अधिक धन दे दूंगा। बहुरूपिया चला गया तो एक मास के बाद एक पूर्ण सन्यासी के सदृश्य राज दरबार में आया। जब राजा ने इस नट की आकृति और निर्भयता आदि को देखा तो प्रभावित होकर खड़े होकर, इस नट रूपी स्वामी को सिंहासन पर बिठाया। तत्पश्चात् थालियों में मोती जवाहर आदि स्वामी जी को अर्पित किया। स्वामी जी ने इस सब धनादि को लात मार कर राजा को डांट कर कहा, क्या तुम्हें पता नहीं कि सन्यासी को धातु का स्पर्श करना दोष माना है। तो फिर उठ कर भजन गाते गाते यह नट रूपी सन्यासी चला गया। कुछ दिनों बाद यह नट पुनः राजा के पास आया और प्रतिज्ञा के अनुरूप धन मांगने लगा। राजा ने कहा, तुमने अभी तक कोई ऐसा वेश बताया नहीं जो हम न समझ सकें तो इस नट ने सन्यासी के व्यवहार की ओर राजा का ध्यान आकिषत किया। राजा ने पूछा, उस वक्त के मोती जवाहर क्यों नहीं आप ने लिया था। नट ने उत्तर दिया, उससे नाटक का भंग हो जाता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि विचारवान नट सदृश्य उपयोगी व्यवहार करता है। बुद्धि से मानता हैं, यह सब में नाटक खेल रहा हूं, इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। तत्पश्चात् विघ्न रहित बुद्धि से ब्रह्म का चिंतन करता है।

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढ़शिला यथा।
नामरूपान्यथात्वेपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥२९३॥

अर्थ : नीरे अधः—नदी का जल नीचे को। **प्रवहत्यपि**—बह भी जाता है। **प्रौढ़शिला**—बड़ा पत्थर। **यथा स्थिाः**—जैसे अचल रहता है। **नामरूपान्यथात्वेपि**—नाम रूप अन्यथा स्वरूप भी हों। **कूटस्थं**—कूटस्थ। **ब्रह्म**—ब्रह्म। **नान्यथा**—अन्यथा नहीं होता।

टिप्पणी : नदी का जल बड़े जोरों से नीचे की ओर बह जाता है परन्तु उस नदी में बहुत बड़ा पत्थर अटल और अचल रहता है। यह दृष्यि पहाड़ी नदियों में बहुत देखा जाता है। इस प्रकार आचार्य का कथन है कि यदि नाम रूपात्मक जल नीचे की ओर बड़े जोरों से बहता जाता है, परन्तु बहुत बड़े पत्थर रूपी कूटस्थ अटल और अचल रहता है।

नाप रूपात्मक जगत में यदि निरन्तर परिवर्तन होते रहे, परन्तु साक्ष्य रूप कूटस्थ में निर्विकार और अटल अचल अपने स्थान पर जमा रहता है।

यहां पर पत्थर से कूटस्थ की निश्चलता और अटलता का तात्पर्य है। अन्य कूटस्थ के गुणों के साथ इसकी उपमा नहीं है।

प्रथमं सच्चिदानंदे भासमानेऽथ तावता।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूमयोः ॥२९४॥

अर्थ : प्रथमं—पहले। **सच्चिदानंदे**—सच्चिदानन्द ब्रह्म। **भासमाने**—भासता है। **अथ**—तत्पश्चात्। **तावता**—उतने पर ही। **बुद्धिं**—बुद्धि को। **नियम्म**—रोक के। **उर्ध्वं**—आगे। **नामरूपयो**—नार रूप को। **नैव**—नहीं। **धारयेत्**—धारण करे।

टिप्पणी : कोई धनवान भैरव। का उपासक था। उसने भैरव तथा

उनके वाहन कुत्ते को सोने का बनवा रक्खा था। भैरव की मूर्ति छोटी सी थी और कुत्ते, उनके वाहन, का रूप भैरव से कई गुना अधिक था इस भैरव के भक्त को आपत्ति आने पर यह सोने का भैरव और उनका वाहन बेचना पड़ा। सोनार ने भैरव के थोड़े दाम बताए और वाहन का बहुत बढ़ चढ़ कर दाम बताया। यह भक्त आश्चर्य से चकित हुआ कि भैरव के थोड़े दाम और उनके वाहन कुत्ते के बहुत दाम मिलते हैं तो सोनार से पूछने लगा— क्या देवता के इतने थोड़े दाम और उनके वाहन के इतने अधिक दाम हो सकते हैं? सोनार ने जिसकी दृष्टि सोने पर थी, नामरूप पर नहीं थी—भैरव और वाहन को गला कर सोना बनाया, तत्पश्चात्, भक्त से पूछने लगा, बताओ भैरव कहां है और वाहन कहां है?

इसी प्रकार आचार्य का अनुरोध है कि प्रथम सच्चिदानन्द रूप सोने की बुद्धि को रोक के आगे नामरूप को मत देखो, जैसे सोनार (स्वर्ण) की दृष्टि से भैरव और वाहन को देखता था।

यह एक अभ्यास है कि सब पदार्थों में पहले सच्चिदानन्द रूप को देखो और नामरूप में नहीं बह जाओ। यह सम्भव है या नहीं है, या कितनी मात्रा में संभव है, यह अभ्यास कर्ता स्वयं निर्णय कर सकता है।

॥ इति ब्रह्मानंदे अद्वैतानंद प्रकरणम् ॥



* ब्रह्मानंदे विद्यानंद प्रकरणम् *

परमात्मा सच्चिदानंदस्तादात्म्यं नाम रूपयोः।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥२६५॥

अर्थ : **परमात्मा**—परमात्मा जो। **सच्चिदानंद:**—सच्चिदानंद रूप है। **नामरूपयो:**—नाम और रूप से। **तादात्म्यं**—एक भाव को। **गत्वा**—प्राप्त होता है। **भोग्यत्वं**—भोग्य रूप को। **आपन्न:**—प्राप्त होता है। **तत् विवेके**—उस परमात्मा के विचार से। **तु नोभयम्**—निश्चय करके दोनों भोग्य और भोक्ता नहीं रहते।

टिप्पणी : नाम और रूप के साथ परमात्मा का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध उस सम्बन्ध को कहते हैं जिससे वास्तविक रूप से सम्बन्ध नहीं, तादात्म्य रूप से सम्बन्ध होता है सच्चिदानंद रूप परमात्मा जब नाम और रूप के साथ ऐक भाव को पहुंचता है, तब भोग और भोक्ता की कल्पना उत्पन्न होती है। परन्तु जब विचार किया जाए कि परमात्मा क्या और नाम रूप क्या है तो न तो भोग्य रहता है और न तो भोक्ता। ये दोनों कल्पनाएँ मिट जाती हैं।

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वरा:।
कामक्रोधाद्य: सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥२९६॥

अर्थ : **धातु वैषम्य**—कफ, वात, पित्त धातुओं की विषमता से। **व्याधयो**—रोगों के कारण। **स्थूलदेहे**—स्थूल शरीर में। **ज्वरा:**—दु:ख '(बीमारी)। **स्थिता**—स्थित हैं। **कामक्रोधादय:**—काम क्रोध आदि। **सूक्ष्मे**—सूक्ष्म शरीर में हैं। **द्वयोर्बीजं**—दोनों का बीज। **तु कारणे**—निश्चय करके कारण शरीर में है।

टिप्पणी : जीव के स्थूल शरीर में कफ, वात, पित्त तीन धातु प्रकृति ने उत्पन्न किए हैं। इन तीन धातुओं का होना स्थूल शरीर के लिए अवश्यंभावी है। परन्तु इन धातुओं का संतुलन रखना पड़ता है। यदि इन धातुओं में संतुलन बिगड़ जाता है तो स्थूल शरीर में रोग उत्पन्न होकर

दु:ख देते है।

इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के भी रोग होते हैं, जैसे काम, क्रोधादिक और शांतिदांति आदि। काम क्रोधादिक भाव रूप से दु: ख देते हैं और शांति आदि अभाव रूप से दु:ख देते हैं। हम काम क्रोध होने पर अपने आप को तिरस्कार करते हैं। यह भाव रूप दु:ख है। शांनि आदि न होने के कारण भी हम अपने आप को धिक्कार करते हैं। यह अभाव रूप दु:ख होता है।

इन दोनों स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के दु:खों का बीज कारण शरीर में रहता है। कारण शरीर वह है, जिसमें सुषुप्ति होती है। वहां पर न तो स्थूल न तो सूक्स की कोई कल्पना होती है परन्तु बीज रूप से स्थित वहां पर सब कुछ है। ईश्वर की कृपा से जब देश काल मिलता है तो दोनों स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में सुख दु:ख जाग उठते हैं। इह सुख दु:ख के जागने को ही कर्म का फल माना जाता है।

अद्वैतानंद मार्गेण परमात्मनि विवेचिते ।
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत्परात्मवित् ॥२९७॥

अर्थ : **अद्वैतानंद**—अद्वैत और आनन्द। **मार्गेण**— मार्ग से अर्थात्, रीति से। **परात्मनि**—परमात्मा। **विवेचिते**—विचार से। **भोग्यं**—भोगों में। **अपश्यन्वास्तवं**—यथार्थता नहीं देखता है। **परात्मवित्**—परमात्मा को जानने वाला। **किं नाम**—क्या निश्चय करके। **इच्छेत्**—इच्छा करे।

टिप्पणी : बाजीगीर के निर्माण किए हुए जतग में से अथवा चलचित्र देखने से बुद्धिमान मनुष्य कुछ इच्छा नहीं करता। चलचित्र की नदी के पानी से हम अपनी प्यास नहीं मिटा सकते हैं। इसी प्रकार जब परमात्मा के जानने वाले ने सच्चिदानन्द रीति से विचार किया हो और जड़ चैतन को अलग समझा हो तो वह किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता।

जब तक हम इस दृश्य प्रपंच को सच्चा मानते है, तब तक हमको भिन्न भिन्न भोगों की इच्छा होती है। जब यह निश्चिय होता है कि ये पदार्थ झूठे हैं तो भोगों की भी इच्छा नहीं रहती।

इसी कारण से आचार्य यह कुछ श्लोक शिक्षात्मक होने के कारण निरूपण करते हैं इन श्लोकों में कोई गम्भीर बात नहीं होती, परन्तु शिक्षात्मक होने के कारण पाठकों के हित के लिए हमने इन श्लोकों का यहां पर निर्णय किया है।

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥२९८॥

अर्थ : यथा—जैसे। **पुष्करपर्णे**—कमल के पत्ते के साथ। **अस्मिन्**—यह। **अपाम**—जल। **अश्लेषणं**—नहीं छूता। **तथा**—वैसे ही। **वेदनात्**—ज्ञान से। **उर्ध्वं**—आगामी। **कर्मणो**—कर्मो का। **बुधे**—ज्ञानवान को। **अश्लेषणं**—मेल नहीं होता।

टिप्पणी : इस शंका का निवारण करने के लिए कि ज्ञानवान को होने वाले कर्मों का फल भोगना पड़ता है। आचार्य निरूपण करते हैं जैसे कमल के पत्ते के साथ पानी का मेल नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान के पश्चात् इस ज्ञानवान को आगाम्य कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता है।

पीछे कहीं हमने कर्मों के विभाग का निर्णय किया है। प्रारब्ध कर्म भोगते भोगते जो कर्म उत्पन्न होते हैं, उनको आगाम्य कर्म कहते हैं। ये ज्ञानवान निष्काम कर्म करने से आगाम्य कर्मों के फल के भागी नहीं होते। इसी कारण से ज्ञानवान के कर्मों से जो सुख दु:ख रूपी फल उपजता है, वह उनके भक्त जन ले लेते हैं। जैसे अवतारों के कर्मों का फल शास्त्रों ने नहीं माना है। अवतारों के सुख दु:ख रूप फल उनके भक्तों को मिलता है।

कामना से कर्मों का फल मिलता है। जब निष्काम होकर कर्म किए जाएँ तो उनका कोई फल नहीं होता। जैसे यंत्र के काम करने में यंत्र को कोई फल नहीं मिलता, वैसे ही यहां समझना चाहिए।

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥२६६॥

अर्थ : इषीकातृणतूलस्य—मँज के घास की रूई। **वह्निदाहः**—अग्नि दाह से। **क्षणाद्यथा**—क्षण में जैसे होती है। **तथा**—वैसे ही। **संचितकर्म**—संचित कर्म। **भवति वेदनात्**—ज्ञान होने से होता है। **अस्य**—इस विद्वान को। **दग्धं**—जल जाते हैं।

टिप्पणी : आगाम्य कार्मो के फल के न होने का निरूपण करने के बाद अब आचार्य इस ज्ञानवान के संचित कर्मों के जल जाने का उदाहरण देते हैं। जैसे मूंज के घास की रूई अग्निदाह से भस्म हो जाती है वैसे ज्ञानवान के संचित कर्मों को ज्ञान जला देता है। ये भाव भगवान ने भी गीता में अ० ४ श्लोक ३६ में व्यक्त किया है। अर्थात् ज्ञानवान को न तो संचित कर्म होते हैं और न तो आगाम्य कर्म होते हैं। ज्ञानवान को प्रारब्ध कर्म मात्र माना है।

यही कारण है कि कहीं कहीं शास्त्रों में कर्मों को अज्ञानियों के लिए कहा है—'अज्ञानि जन बोधार्थं प्रारब्धं वक्तवय श्रुति' वास्तव में यह कर्मों की व्यवस्था वशिष्ठ जी के मतानुसार सब मन की कल्पना है और न इसको कोई समझ सका है और न समझ सकेगा।

पूछा जा सकता है कि ये कर्म कब आरम्भ हुए थे? और क्यों कर्मों के विभाग कर्ता ने जगत को सुख दुःख में फँसा दिया है। इस प्रश्न का उत्तर

शास्त्रकार देते हैं कि कर्म अनादि हैं और साअंत हैं, अर्थात् इनका आदि नहीं है, जिससे इस कर्म की व्यवस्था का खोखलापन प्रत्यक्ष हो जाता है। हां यह ठीक है, तकलीफ में यह कर्मों का विभाग एक सहारा है, वास्तव में नहीं।

साअंत का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के अनुसार ज्ञान होने से कर्मों का अंत हो जाता है। इसी से बशिष्ट जी के मत की पुष्टि हो जातो है।

जक्षन्क्रीडन्रतिं प्राप्तः स्त्रीभीर्यानैस्तथेतरैः।

शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेतमुम् ॥३००॥

अर्थ : जक्षिण—खाता हुआ। **क्रीड़न**—क्रीड़ा करता हुआ। **स्त्री भी**—स्त्रीयों के साथ। **यानै**—सवारियों से। **तथेतरैः**—वैसे ही और पदार्थों से। **रतिं**—प्रीति को। **प्राप्तः**—प्राप्त हुआ। **शरीरं**—शरीर को। **नस्मरेत्**—स्मरण नहीं करता। **अमुम**—यह शरीर। **प्राणः कर्मणा**—प्राणों और कर्मों से। **जीवयेत्**—जीवित है।

टिप्पणी : श्रुति भारतीय विज्ञान और ज्ञान दोनों का मौलिक शास्त्र है। इसमें ऐतिहासिक और रीति रिवाज की परम्परा को त्याग कर के जो कुछ भी लिखा है, वह हर बुद्धिमान को संमत है, चाहे वह किसी भी देश का या सम्प्रादय का हो। वास्तव में श्रुतियों में प्राकृतिक विधि विधान है, जिससे कोई भी बुद्धिमान मनुष्य इंकार नहीं कर सकता। इसी कारण से श्रुतियों को मौलिक माना गया है।

इस श्लोक में आचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् का प्रमाण लाया है। वहां पर इस ज्ञानवान की दशा का निरूपण किया है। अर्थात् यह ज्ञानवान खाता पीता है, क्रीड़ा करता है, स्त्रियों से, वाहनों से वैसे ही अन्य पदार्थों से प्रीति को प्राप्त हुआ शरीर की ओर ध्यान नहीं देता। इस ज्ञानवान का शरीर प्राणों और प्रारब्ध कर्मों से जिवित रहता है।

ज्ञान और अज्ञान दोनों स्वसंविधि दशायें हैं। जो ज्ञानवान और अज्ञानी दोनों स्वयं जानते हैं। बाह्य दृष्टि से ज्ञानवान और अज्ञानी में कोई भेद नहीं प्रतीत होता है। इसी कारण से श्रुति ने उल्लेख किया है कि यदि हम ज्ञानवान को खाते पीते, स्त्रियों और वाहनों से क्रीड़ा करते हुए देखे तो यह नहीं समझना चाहिए कि इसको मोह हो गया है।

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ।
वर्तते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥३०१॥

अर्थ : सर्वान्कामान—सब कामनाओं को। **सहाप्नोति**—इकट्ठे प्राप्त करता है। **नान्यवत्**—दूसरों के सदृश्य नहीं। **जन्मकर्मभिः**—जन्म और कर्म से। **श्रोत्रिये**—ज्ञानवान को। **भोगा**—भोग। **युगपत्**—इकट्ठे। **क्रमवर्जितः**—क्रम रहित। **वर्तते**—होता है।

टिप्पणी : भोग आनन्द प्राप्ति का साधन है। आनन्द में भेद नहीं माना है। ब्रह्मानंद, विद्यानंद, विषयानंद एक ही आनंद है। आनन्द प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वरूप है। यह आनन्द ऐकाग्र वृत्ति में प्रतिबिंब होने से अनुभव होता है। इस वृत्ति को ऐकाग्र करने के लिए चाहे विषय भोग हों या धार्मिक प्रसंग हो, या ब्रह्म चिंतन हो, कोई भेद नहीं होता। साधन यदि भिन्न भिन्न हैं, साध्य में कोई भेद नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कोई क्षणिक आनन्द होता है और कोई स्थायी। वैसे भिन्न भिन्न साधनों की प्रतिक्रिया भी बहुत महत्व रखती है। धार्मिक साधन, जैसे माला जपना, स्वाध्याय आदि से अन्तः करण का संतुलन होता है। इसके विपरीत विषय भोगों के साधन की प्रतिक्रिया सब को विदित है।

इसी भाव को प्रकट करने के लिए आचार्य ने तैत्तिरीय उपनिषद के अर्थ को यहां श्लोक बद्ध किया है। अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ विद्वान को वह

सभी आनन्द प्राप्त होते हैं, जो औरों को जन्म कर्म से मिलते हैं। अन्य मनुष्यों को क्रम से ये आनन्द जन्म और कर्म के अनुसार मिलते हैं, परन्तु ज्ञानवान को यह आनन्द इकट्ठे मिलता है।

श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ उस विद्वान को कहते हैं जिसने समस्त उपयोगी विद्या का अध्ययन किया हो और ब्रह्मनिष्ठ भी हो, अर्थात् ज्ञान हुआ हो। कई विद्वान विद्या का अध्ययन करके भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। उनको श्रोत्रिय मात्र कहा जाता है और कितने ही भाग्य शालियों को ब्रह्म का साक्षात्कार होकर ब्रह्म निष्ठ कहते हैं। श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ का स्थान बहुत ऊंचा होता है। वह तर्क वितर्क वालों को विद्या के बल से और ब्रह्म के अनुभव से अधिक उपयोगी हो सकता है।

सर्वैमानुष्यकैर्भोगैः संपन्न स्तृप्त भूमिपः।
यमानंदमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥३०२॥

अर्थ : सर्वैर्मानुष्यकै—सब मनुष्यों के। भोगैः—भोगों से। संपन्नः—प्राप्त हुआ। तृप्तभूमिपः—तृप्त चक्रवर्ती राजा। यमानंदम्—जिस आनन्द को। अवाप्नोति—प्राप्त होता है। ब्रह्मविच्च—ब्रह्म ज्ञानी भी। तमश्नुते—उसको भोगता है।

टिप्पणी : ऊपर के श्लोक की टिप्पणी में जो विस्तार किया है, वस्तुतः उसी श्लोक का निर्णय है।

ज्ञानवान उस आनन्द को भोगता है, जो चक्रवर्ती राजा मानुषी भोग भोंगने से प्राप्त करता है। आनन्द प्राप्ति में दोनों में कोई भेद नहीं है। साधनों में भेद है, पर साध्य में नहीं, ऐसा आचार्य का कथन है।

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥३०३॥

अर्थ : मर्त्यभोगे— मानुषी भोगों से । **द्वयोर**— दोनों, राजा और ज्ञानवान । **काम**— इच्छा सहित । **नास्ति**— नहीं होते हैं । **तृप्तिर**— तृप्ति । **अतः समा**— इस कारण से समान है । **भोगात् निष्कामता**— भोगों से निष्काम भाव । **एकस्य**— एक को है । **परस्यापि विवेकतः**— दूसरे को विचार से ।

टिप्पणी : आचार्य अब राजा और ज्ञानवान की तृप्ति की समानता बताते हैं । राजा को जब सब मानुषी भोग प्राप्त होते हैं, तब तृप्त होकर उन भोगों की इच्छा के रहित रहता है । ज्ञानवान को यह तृप्ति विचार से प्राप्त होती है । फल स्वरूप दोनों की तृप्ति समान होने से दोनों का आन्नद एक जैसा है । राजा को भोगों से और ब्रह्म निष्ठ को विचार से समान आन्नद प्राप्त होता है ।

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।
शुनांवांते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥३०४॥

अर्थ : देहदोषान्—शरीर के दोष । **चित्तदोषान्**—मन के दोष । **भोग्य दोषान्** भोग्य पदार्थों के दोष । **अनेकशः**— अनेक प्रकार होने के कारण । **शुनां वांते**—कुत्ते के कै किए हुए । **पायसे**—अन्न को । **नो कामः**—कोई नहीं अभिलाषा करता है । **तद्वत् विवेकिनः**— वैसा ही विचारवान को ।

टिप्पणी : राजा वृहत् रथ ने कथाओं के द्वारा इस श्लोक का अर्थ निरूपण किया है । यह वेद की मैत्रायिनी शाखा में मिलता है ।

विषयों के भोग करने में मुख्य रूप से तीन दोष होते हैं—शरीर का दोष, मन का दोष और भोग्य पदार्थ का दोष । विचारवान इन दोषों को दृष्टि में रख कर अल्प भोग भोगता है । विचारवान का निश्चय है कि वह थोड़े से भोग

जीवनोपाय औषधिवत् भोगता है। इसके विपरीत विचार हीन संसारी पुरष मानते हैं कि हम विषयों का भोग करने के लिए ही जीवित हैं।

विचारवान भोग्य पदार्थ भोगने के समय प्रथम यह देखता है कि इसमें मेरा शरीर कैसा रहेगा। तत्पश्चात् इस भोग के भोगने से मेरे चित्त में क्या प्रतिक्रिया होगी ? अन्त में यह विचार करता है, इस विषय के उपार्जन में क्या क्या दोष रूप कष्ट उठाने पड़ेगें। इसी कारण से राजा वृहत्त रथ ने अपनी कथाओं में यह निरूपण किया है कि कुत्ते के कै किए हुए अन्न को खाने की कौन इच्छा करता है ? अर्थात् कोई नहीं करता है। इसी कारण से विवेकी पुरष भोगों की इच्छा नहीं करता। परन्तु सामान्तय: यह देखा गया कि विचार हीन पुरष बहुत अनर्थ करके धन उपार्जन करते हैं और विषयों को भोगते हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य विगड़ जाता है और मन पर बुरा असर पड़ता है।

मुझे कुछ महा पुरूषों के दर्शनों का सौभाग्य हुआ है और उनके खाने पीने और विषय भोगों की मर्यादा देखी है। डॉ० टैगोर को जब मैं शान्ति निकेतन में मिला, वे एक छोटे से चमचे के साथ थोड़े से चावल और कददू को हल्दी मिला कर खाते थे। वह उत्तरायण बंगला जो उनका शान्ति निकेतन में था— में नहीं रहते थे। उन्होने अपने लिए एक ओपलों की कुटिया सुन्दर तरीके से बना कर तख्तों के पलंग पर सोते थे। इसी प्रकार मैंने श्रीमान् मालवीय जी का भी खान पान देखा। वे भीं अत्यन्क साधारण खाते थे। गांधी जी का तो खान पान सबको विदित है। खान पान का विषय समस्त विषयों से अधिक महत्वपूर्ण माना है। इससे रस का ग्रहण किया जाता है। रस के त्याग का उपस्थ इन्द्रिय के साथ घनिष्ठ संबंध है। मैं तो मानता हूं कि यदि स्वादेन्द्रिय को नियंत्रण में रक्खा जाय तो पचास प्रतिशत संसार जीता जाता है। आशा है, भद्र पाठक इस मेरे सिद्दान्त से सहानुभूति रक्खेंगे।

॥ इति ब्रह्मानंदे विद्यानंद प्रकरणम् ॥



* अथ ब्रह्मानन्दे विषयानन्द प्रकरणम् *



गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामोभवेत्तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥३०५॥

अर्थ : यदा—जब । **गृहक्षेत्रादि**—घर और जमीन । **विषये**—विषयों में । **कामो**--कामना । **भवेत्**—होती है । **तदा**—तब । **राजसस्या**—रजोगुणी । **अस्य**—इस । **कामस्य**—कामना को । **घोरत्वात्त**—घोर रूप होने से । **तत्र**—उसमें । **सुखम्**—सुख । **नो**—नहीं होता है ।

टिप्पणी : जीव के अन्तः करण की वृत्तियों के तीन रूप बताए हैं, शान्त, घौर और मूढ़ । सत्वो गुण प्रधान वृत्तियों को शान्त वृत्ति कहते हैं । और रजोगुण प्रधान वृत्तयों को घोर वृत्ति कहते है और तमो गुण प्रधान वृत्तियों को मूढ़ वृत्तियां कहते हैं । यह उपनिषदों में निरूपण है । घोर और मूढ़ वृत्तियों में सुख का प्रतिबिंब नहीं लगता ।

यहां पर आचार्य घोर वृत्ति का निरूपण करते हैं । आचार्य का कथन है, कि जब घर, पुत्र, ज़मीन, स्त्री आदि विषयों में इच्छा होती है, तो उसको घोर वृत्ति कहते हैं । इस घोर वृत्ति के मलिन और चंचल होने के कारण से अपने स्वरूप के आनन्द का प्रतिबिंब नहीं लगता । जब अपने स्वरूप के आनन्द का प्रतिबिंब नहीं लगा तो सुख कैसे प्रतीत होंगे ?

सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विर्धते ।
प्रतिबंधे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥३०६॥

अर्थ : दुःखम्—दुःख । **इति आस्ति**—ऐसा होता है । **असिद्धौ**—सिद्ध न

होने पर। **तत् विवर्धते**—वह दुःख बढ़ जाता है। **प्रतिबंधे**—रूकावट होने पर। **क्रोधो**—क्रोध। **भवेत्**—होता है। **प्रतिकूलतः**—उल्टा होने से। **द्वेषो वा**—या द्वेष होता है।

टिप्पणी : प्रत्येक कामना से मन में चंचलता प्रगट होती है। अर्थात् क्या यह कामना हमारी सिद्ध होगी या नहीं, यह एक दुःख है। तत्पश्चात् यत्न करने से यदि यह कामना सिद्ध नहीं हुई तो वह दुःख बढ़ जाता है। यदि इस कामना की पूर्ति में किसी ने रूकावट डाल दी तो उस पर क्रोध करता है, यदि रूकावट डालने वाला इतना बलवान हो कि यह इच्छुक कुछ उपया नहीं कर सकता तो मन में द्वेष उत्पन्न होता है। यह सर्व साधारणतः सिद्ध है।

अशक्यञ्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः।
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशंकापि दूरतः ॥३०७॥

अर्थ : चेत—यदि। **प्रतीकारो**—उपाय। **अशक्य**—नहीं हो सकता। **विषादः**—शोक। **स्यात्**—होता है। **स तामसः**—वह तो तमोगुण है (शोक) **क्रोधादिषु**—क्रोध आदि में। **सुख शंकापि**—सुख का लेश मात्र भी। **दूरतः**—दूर होने के कारण। **महद्दुःखं**—बहुत दुःख है।

टिप्पणी : मनुष्य अपनी कामना पूर्ण करने के लिए बहुत उपाय करता है और जब यह उपाय काम नहीं कर सकते तो इससे शोक होता है। शोक तो तमोगुण का कार्य है। क्रोध भी तमोगुण का कार्य है। इस शोक और क्रोध में सुख का लेश मात्र भी न होने के कारण दुःख होता है।

जैसे अपने अपने घर का निर्माण करने के लिए अपनी सरकार से आज्ञा मांगी हो और घर बनाने की आज्ञा नहीं देती है तो भिन्न भिन्न उपायों के पश्चात् आप सरकार के विरूद्द उच्च न्यायालय में जाकर न्याय मांगते हैं। यदि उच्च न्यायालय ने भी आप का पक्ष रद्द कर दिया तो मनुष्यय को अत्यन्त शोक होता है। इस शोक को मूढ़ वृत्ति होने के कारण इसमें सुख-

शंका भी नहीं होती है, अतः महान दुःख होता है। यह उपमा अन्य और कामनाओं के साथ भी मिलाना उचित है।

काम्यलाभेहर्षवृत्तिः शांता तत्र महत्सुखम् ।
भोगे महत्तरं लाभ प्रसक्तावीषदेवहि ॥३०८॥

अर्थ : काम्य भाले—कामना के लाभ से। **हर्ष वृत्तिः**—सुख रूप वृत्ति। **शांता**—शांत रूप होती है। **तत्र**—वहां। **महत्सुखम्**—बड़ा सुख है। **भोगे महत्तरं**—भोग में अधिक सुख है। **लाभ प्रसक्ताव ईशदेव हि**—लाभ के प्रसंग में किंचित मात्र ही सुख निश्चय करके होता है।

टिप्पणी : शास्त्रों के मत के अनुसार मोद प्रमोद और अतिमोद तीन शब्द है। जब किसी इष्ट पदार्थ का दर्षन होता है, तब वह पदार्थ पहले अपने अधिकार में लाना पड़ता है। इसको प्रमोद कहते हैं। जब इस पदार्थ का भोग किया जाता हैं, तब इसको अतिमोद कहते हैं।

इष्ट दर्शन मोद होता है और इष्ट लाभ प्रमोद होता है। अन्त में इष्ट भोग अति मोद कहा जाता है। जैसे प्रथम आप को आम खाने की इच्चा उत्पन्न होती है, फिर बाजार में जाकर आप आमों का दर्शन करते हैं। आमों के दर्शन करने के बाद आप कुछ आम मोल लेते हैं; अर्थात् इस इष्ट पदार्थ का आप को लाभ हो गया। फिर आप घर में आकर विधिवत् आप प्रामों का भोग करते हैं। आमों को अपने अधिकार में करने को इष्ट लाभ कहते हैं और आमों के खाने को इष्ट भोग कहते हैं। यही मोद, प्रमोद और अतिमोद होता है। मोद में सुख होता है, प्रमोद में इससे अधिक सुख होता है और भोग में महान सुख होता है। यह मोद, प्रमोद, अतिमोद हरेक कामना से जोड़ा जा सकता है।

इसी शास्त्र विचार के आधार पर ग्रन्थकार कहते हैं कि कामना के लाभ से हर्ष रूप शांत वृत्ति होती है और भोग में बहुत सुख होता लाभ की तुलना

से भोग में अधिक सुख होता है, यही शान्त वृत्ति होती है ।

महत्तं विरक्तौ तु विद्यानंदे तदीरितम् ।
एवं क्षांतौ तथौदार्ये क्रोधलोभ निवारणात् ॥३०६॥

अर्थ : महत्तं—अत्यधिक सुख । **विरक्तौ तु**—त्याग करने में है । **विद्यानंदे** विद्यानंद प्रकरण में । **तदीरितम्**—वह वर्णन किया । **एवं**—इसी प्रकार । **क्रोध लोभ**—क्रोध और लोभ । **निवारणात्**—निवारण होने के कारण (सुख) । **क्षांतौ तथौदार्ये**—शान्ति और उदारता में है ।

टिप्पणी : कामना के लाभ में और कामना के भोग में सुखों का निरूपण करने के पश्चात् आचार्य मानते हैं, कि त्याग में अत्यधिक सुख होता है। यह पीछे विद्यानंद प्रकरण में निरूपण किया गया है जब हम क्रोध और लोभ का स्थान शान्ति और उदारता को देंगे तो हमको महान सुख होता है । अर्थात् क्रोध वृत्ति आने पर यदि क्षमा की वृत्ति आ जाये और लोभ की वृत्ति पर जब उदारता आ जाय तो महान सुख होता है ।

क्रोध और शान्ति समझना एक गंभीर समस्या है । कभी कभी मनुष्य असमर्थ होने के कारण क्रोध न करने का व्याख्यान करते हैं, वास्तव में यह शान्ति नहीं है, यह असमर्थता है । क्रोध और शान्ति कायिक, वाचिक मानसिक होती हैं । क्रोध यदि मन से भी न आ जाय, तो उसे शान्ति कहेंगे, जैसे छात्रों को अध्यापक क्रोध करता है, परन्तु वे सहन नहीं करते हैं, अपितु असमर्थता के कारण चुप रहते हैं । कोई क्रोध वाणी से होता है, कोई शरीर के बल से होता है, अधिक क्रोध मन से होता है, इन सब को शांति नही कहते हैं । महात्मा सदा ही अन्य लोक जनों को अपने बालक जैसे समझते हैं और मन से भी क्रोध नहीं करते । उनका यह कार्य क्षमा की कोटि में माना जायेगा । इसी प्रकार कितनेक मनुष्य के गुणों में और दुर्गुणों में बहुत सूक्ष्म अन्तर हाता है । इसी कारण से कितने ही जीव अवगुणी होकर भी अपने आप को गुणवान समझते

हैं। इन गुणों और दुर्गुणों के निरूपण में मात्रा विभाग अवश्य समझना चाहिए।

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तब्रह्मैव प्रतिबिंबनात्।
वृत्तिष्वंतर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिंबनम् ॥३१०॥

अर्थ : यद्यत्सुखं—जो जो सुख। **भवेत्**—होता है। **तत् तत्**—वह वह। **ब्रह्मैव**—ब्रह्म के ही। **प्रतिबिंबनात्**—प्रति बिंब से होता है। **अन्तर्मुखास्व**—अन्तर्मुख। **वृत्तिष्व**—वृत्तियों में। **अस्य**—इस ब्रह्म का। **निर्विघ्नं**—विघ्न-रहित। **प्रतिबिंबनम्**—प्रतिबिंब होता है।

टिप्पणी : यहां आचार्य सुख का लक्षण बताते हैं; अर्थात् सुख क्या है? ये सुख दुःख सब मनोकल्पित हैं। कोई वस्तु मनुष्य को सुखी या दुखी नहीं बना सकती, प्रत्युत मन के विचार से ही उस वस्तु की सुखता और दुःखता प्रतीत होती है। यहां पर श्री महा भागवत् का इस प्रश्न पर एक श्लोक अनुचित न होगा।

"नायं जनो मे सुख दुःख हेतुः।
न देवतात्मा गृह कर्म, कालः॥
मनः परम कारणं आमनन्ते।
संसार चक्रं परिवर्त एतयत॥"

यह लोक जन मुझे सुख दुःख देने के हेतु नहीं होते। नहीं देवता, नहीं शरीर, नहीं ग्रहों का चक्र, नहीं कर्म, नहीं काल। मन ही परम कारण है संसार चक्र को जो चलाता है।

इसी कारण से ग्रन्थकार लक्षण कथन करते समय यह निरूपण करते हैं, कि जो जो सुख होता है, वह वह सुख सच्चिदाद ब्रह्म के प्रतिबिंबनं से होता है। यह प्रतिबिंब विघ्न रहित अन्तर्मुख मन की वृत्तियों में लगता है।

विषय भी सुख का एक साधन समझा जाता है। यह विषय चंचल और

वहिर्मुख वृत्ति से नहीं भोगा जा सकता है। यह सबका अनुभव है। कितने बार यह देखा गया है कि एकही विषय, जिससे सुख प्राप्त होता था, अन्य समय यही विषय विक्षिप्त दशा में सुख नहीं देता। जिसका कारण यह हो सकता है कि प्रथम परिस्थिति में मन शान्त होकर भोगा गया था और दूसरी परिस्थिती में मन की विक्षिप्त दशा में वही विषय सुख नहीं दे सकता यद्यपि विषय और इन्द्रिय का संयोग होता है। तथापि मन की वृत्ति के अन्तर्मुख न होने के कारण जब प्रतिबिंब न लग सका तो आनन्द भी नहीं उपलब्ध होता।

इसी कारण से अन्तर्मुख वृत्ति होना सुख प्राप्ति के लिये आवश्यक है। अन्तमुंख वृत्ति हुए बिन अपने स्वरूप का आनन्द प्रतिबिंबत नहीं हो सकता। चाहे साधन सांसारिक हो या पारमर्थिक हो।

सत्ताचितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥३११॥

अर्थ : सत्ता—अस्तितता। **चिते**—चैतन्यता। **सुखं**—आनन्दता। **चेति**—ऐसे। **त्रयः**—तीन। **ब्रह्मणः**—ब्रह्म के। **स्वभाव**—स्वरूप हैं। **मृच्छिलादिषु**—मिट्टी और पत्थर में। **सत्तैव**—सत्ता ही केवल। **व्यज्यते**—प्रतीत होती है। **नेतरद्वयम्**—दूसरे दो नहीं।

टिप्पणी : ग्रन्थकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि सांसारिक वस्तुओं में कैसे सत्ता, चित्ता और आनन्दता देखी जा सकती है? यह सत्ता चित्ता और आनन्दता ब्रह्म के तीन स्वरूप माने हैं। इन तीनों में से किस किस वस्तु में कौन कौन सा ब्रह्म का स्वरूप है, आचार्य का कथन है, मिट्टी, पत्थर आदि में सत्ता मात्र ही स्पष्टतया प्रतीत होती है और दूसरी दो अर्थात चैतन्यता और आनन्दता पत्थर आदि निर्जीव वस्तवों में नहीं दीख पड़ती।

वास्तव में ये तीनों स्वरूप अभिन्न हैं और किसी में एक स्वरूप अधिक

होता है, उसी को दृष्टान्त के तौर पर लेते हैं। यह साधक के लिए विचार करने की विधि है।

सत्ता चित्तिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमुढयोः।
शान्त वृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मोत्थमीरितम् ॥३१२॥

अर्थ : घोर मूढयोः—घोर मूढ़। **धिवृत्तयोर**— बुद्धि वृत्तियों में। **सत्ता** सत्ता। **चितिर्द्वयं**—चैतन्यता दो। **व्यक्तं**—प्रकट होते हैं। **शान्त वृत्तौ**—शान्त वृत्ति में। **त्रयं व्यक्तं**—तीनों प्रकट होते हैं। **मिश्रम् ब्रह्म**—मिश्र ब्रह्म। **येथीरतम्**—ऐसा कहा गया है।

टिप्पणी : घोर और मूढ़ बुद्धि वृत्तियों में चैतन्यता और अस्तिता प्रगट होती हैं; अर्थात् यह वृत्ति है। अस्तिता सिद्द हो गई। चैतन्य रूप है—चैतन्यता सिद्द हो गई। घोर मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म के दो स्वरूप साधक को चिन्तन करने चाहिए। शान्त वृत्ति में सत्ता, चित्ता और आनन्दता तीनों प्रकट होते हैं। इस शान्त वृत्ति को मिश्र ब्रह्म के नाम से शास्त्रज्ञ जानते हैं।

मिश्र ब्रह्म निरूपाधिक ब्रह्म के निकट होने के कारण इसको उत्तम माना जाता है, इसमें सच्चिदानन्द ब्रह्म के तीनों स्वरूप प्रगट होते हैं। यह शान्त वृत्ति हर समय सिद्द करने की अपेक्षा है। कहीं समान्य रूप से और कहीं विशेष रूप से। इस ब्रह्माभ्यास को मिश्र ब्रह्म; अर्थात् वृत्ति उपहित चैतन्य ब्रह्म कहा गया है।

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे माया रूपं त्रयं त्विदम्।
असत्ता नरशृंगादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥३१३॥

अर्थ : असत्ता—असत्ता (न होना)। **जाढ़्यं**—जड़ भाव। **दुःखेद्वे**—दो दुःख। **माया रूपं**—माया रूप। **त्रयं त्विदम्**—ये तीन हैं। **असत्त नरशृंगादौ**—

असत्ता जैसे मनुष्य के सींग आदि। **जाड्यं**—जड़ता। **काष्ठशिलादिषु**—लकड़ी और पत्थर आदि में।

टिप्पणी : माया रूप असत्ता और जड़ता का आचार्य उपदेश करते हैं। असत्ता जैसे मनुष्य के सींग या आकाश में पुष्प न होने के कारण इसका असत्ता नाम पड़ा है। निर्जीव वस्तुओं में जैसे काष्ठ पाषाण आदि में पाई जाती है। कारण रूप माया और असत्ता और जड़ता तीनों दुःख के कारण माने हैं। यहां पर माया कार्य को माया शब्द से संबोधित किया है।

घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृंभिता।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥३१४॥

अर्थ : **घोरमूढधियो**—घोर और मूढ़ बुद्धि में। **दुःखं**—दुःख है। **एवं माया**—इसी प्रकार माया का। **विजृंभिता**—प्रतिभास है। **शांतादि**—शांति आदि। **बुद्धिवृत्त्यैक्यात्**—बुद्धि वृत्ति की ऐकता से। **मिश्रं ब्रह्म**—मिश्र ब्रह्म। **इति कीर्तितम्**—ऐसा कीर्तन किया है।

टिप्पणी : मूढ़; अर्थात् तमोगुण मन की वृत्ति में और घोर, रजोगुण मन की वृत्ति में सुख नहीं होता है। इसी को माया का उल्लास कहते हैं। शांति आदि सतोगुण मन की वृत्ति में ब्रह्म के स्पष्टतया प्रतिबिंब से इसको मिश्र ब्रह्म कहते हैं। इसमें निर्विवाद सुख ही सुख होता है। मिश्र ब्रह्म का तात्पर्य है, मिलावट सहित ब्रह्म; अर्थात सतोगुण वृत्ति सहित ब्रह्म को मिश्र ब्रह्म कहते हैं।

वास्तव में ब्रह्म का साक्षात् अनुभव हो नहीं सकता, परन्तु सतो गुण वृत्ति उपहित चैतन्य को साक्षात्कार कहते हैं। इस सतोगुण वृत्ति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी रहती है। जब ज्ञाता, ज्ञान रूप इस वृत्ति का ज्ञेय रूप ही रहा जाता है तो इसको चरम वृत्ति कहते हैं। यह

वृत्ति भी जब लय हो जाती है तो विदेह मुक्त साधक हो जाता है। वास्तव में ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इस चरम वृत्ति को ही साक्षात्कार आचार्यों ने माना है।

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिंतनम्।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिंतनम् ॥३१५॥

अर्थ : **शिलादौ**—पत्थर आदि में। **नामरूपे द्वे**—दो नाम रूप। **त्यक्त्वा** छोड़ कर। **सन्मात्रचिंतनम्**—केवल सत का चिंतन करना चाहिए। **घोरमूढधियो**—घोर और मूढ़ बुद्धि में। **दुःखं त्यक्त्वा**—दुःख छोड़ कर। **सच्चिद्विचिंतनम्**—सत और चित्त का चिंतन करना चाहिए।

टिप्पणी : हम पहले निरूपण कर आए हैं कि ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित और आनन्द है इस सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का स्वरूप घोर मूढ़ और शान्त वृत्तियो में अभिव्यक्त होता है। अब आचार्य कथन करते हैं, किस वृत्ति में कौन सा भाग छोड़ कर सच्चिदानन्द का विचार कर सकते हैं।

पत्थर, लकड़ी आदि में दो नाम रूप छोड़ कर सत्ता मात्र का विचार करना चाहिए। घोर मूढ़ वत्तियों में दुःख छोड़ कर सत्ता, चित्ता का चिंतन करना चाहिए। यह साधक को अभ्यास करने के लिए भाग बिभाग किया गया। वास्तव में सच्चिदानन्दरूप भाग विभाग के बिन अद्वैत है।

शांतासु सच्चिदानंदांस्त्रीनप्येवं विचिंतयेत्।
कनिष्टमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चितः क्रमादिमाः ॥३१६॥

अर्थ : **शांतासु**—शांत वृत्तियों में। **सच्चिदानंद**—सत, चित, आनन्द। **त्रीन अपि एवं**—तीन इसी प्रकार। **विचिंतयेत्**—चिंतन करना चाहिए। **कनिष्ट**—छोटे। **मध्यम**—मध्यम। **उत्कृष्टा**—और सबसे उत्तम। **स्तिस्र**—तीन। **चिता**—चिंतन। **क्रमात् इमा**—क्रम से ये हैं।

टिप्पणी : शान्त वृत्ति में सत्, चित और आनन्द तीनों ब्रह्म के स्वरूप उपलब्ध होते हैं। आचार्य का कथन है कि मूढ़ वृत्तियों में सत् रूप ब्रह्म का चिंतन सबसे छोटे कनिष्ट अधिकारी के लिए हैं। घोर वृत्तियों में सत चित का चिंतन करना मध्यम अधिकारी का विषय है। शान्त वृत्ति में तीनों सच्चिदानंदरूप का चिंतन करना सबसे उत्कृष्ट अधिकारी का भाग है।

यह तीनों; अर्थात् कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम अधिकारीयों के लिए विचार करने की रीति आचार्य अनुग्रह करके बताते हैं।

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यै वसा खलु।
ध्याने नैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरी भवेत् ॥३१७॥

अर्थ : ज्ञान योगाभ्यां—ज्ञान और योग, इन दोनों से। **नध्यानं**—ध्यान नहीं होता। **सा**—वह। **खलु**—निश्चय करके। **ब्रह्मविधैव**—ब्रह्म विद्या। **ध्यानेन**—ध्यान से। **ऐकाग्रयं आपन्ने**—ऐकाग्रय को प्राप्त हुए। **चित्ते**—मन में। **विद्या**—ब्रह्म विद्या। **स्थिरी भवेत्**—दृढ़ होती है।

टिप्पणी : इस श्लोक में शब्द अर्थों का गूढ़ अभिप्राय है। ग्रन्थकार का कहना है कि ज्ञान और योग से ध्यान नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञान और योग की निष्फलता है। आचार्य का कथन है ध्यान ही ब्रह्म विद्या है। अतः ऐकाग्रय को प्राप्त हुये मन में ब्रह्म विद्या दृढ़ होती है।

विद्यायां सच्चिदानंदा अखंडैकर सात्मताम्।
प्राप्य भांति न भेदेन भेद कोपाधिवर्जनात् ॥३१८॥

अर्थ : विद्यायां—ब्रह्म विद्या में। **सच्चिदानंदा**—सत्, चित् और आनन्द। **अखंडैकरसात्मताम्**—अखंड एक रस भाव को। **प्राप्य**—प्राप्त

करके। भेद कोपाधि वर्जनात्—भेद करने वाली उपाधि के त्याग से। न भदैन—अलग अलग नहीं। भांति—दीखता है।

टिप्पणी : ब्रह्म चिंतन में जब सच्चिदानंद रूप का विचार आता है तो भेद प्रतीत होता है। सत, चित नहीं हो सकता, चित आनन्द नहीं हो सकता। इस कारण से भेद प्रतीत होता है। अतः आचार्य कहते है, कि जब यह विचारवान अखंड एक रस भाव को प्राप्त होता है, तो वह जिस उपाधि भेद से सत, चित और आनन्द को वह भिन्न भिन्न समझता है, उस उपाधि के त्याग के पश्चात् यह भेद मिट जाते हैं।

सच्चिदानंद कहने मात्रा में आपाततः प्रथम भेद प्रतीत होता है। परन्तु यह सच्चिदानंद चैतन्य ब्रह्म का वाचक है और वाच्य अखंड एक रस भाव है, जिसमें कोई भेद की शंका उपलब्ध नहीं होती। उस अलौकिक अनुभूति को साधक स्वयं अनुभव कर सकता है, न कि अन्य कोई निरूपण कर सकता है।

शांता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः।
योगाद्विवेकतो वैषामुपाधिनामपाकृति ॥३१९॥

अर्थ : शांता—शांत रूप वृत्ति। घोराः—घोर रूप वृत्ति। शिलाद्याञ्च मुढ रूप वृत्ति। भेदकोपाधयो—भेद करने वाली उपाधि से। मताः—माना है। योगाद्विवेकतो वा—योग से या विवेक से। येषां—ये दोनों। उपाधि नाम—उपाधियां। अपांकृतिः—दूर हो सकती हैं।

टिप्पणी : ऊपर जो उषाधियों का निरूपण किया है यही भेद को उत्पन्न करती हैं शान्त रूप सतोगुण वृत्ति, धोर रूप रजोगुण वृत्ति और मूढ रूप तमोगुण वृत्ति सच्चिदानं रूप के भेद भाव को प्रकट करती हैं और विवेक से अथवा योग से इन उपाधियों का दूर करना माना है।

अर्थात् उपाधि रहित विचार करने से उस अखंड एक रस ब्रह्म का अनुभव हो सकता है, ऐसा आचार्य का कथन है।

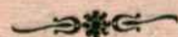
प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानंदेन सर्वदा।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥३२०॥

अर्थ : अनने—इस। **ब्रह्मनंदेन**—ब्रह्मानंद से। **हरिहर**—नारायण और शिव जी। सर्वदा —सर्वदा **प्रीयात्**—सर्वदा प्रसन्न बनें। **स्वाश्रितान्**—अकने आश्रित जो। **शुद्ध मानसन्**—शुद्ध मन वाले। **सर्वान्**—सब। **प्राणिनः**—जीवों को। **पायाच्च**—रक्षा भी करें।

टिप्पणी : ग्रन्थ लिखने की विधि में उपक्रम और उपसंहार रूप नियम को पालने के लिए यह श्लोक आचार्य ने आशीर्वाद के रूप में निरूपण किया है।

ब्रह्मानंद रूप भगवान नारायण और शंकर महादेव उन शुद्ध मन वाले भक्तों का कल्याण करें, जो उनके आश्रित हैं।

॥ इति ब्रह्मानंदे विषयानंद प्रकरणम् ॥



शुद्धि-पत्र





पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध रूप
क	१६	परमात्मा
ख	१६	प्रत्येक
घ	१३, २२, २५	प्रधाण, जिज्ञासु, परीक्षा
ङ	१५	जीव
ञ	६, १६	आलोचक, संकल्प
ठ	१, ३	श्रीमान, सन्
ड	३, ६, १५/१६	सामर्थ्य, विख्यात, की
ढ	१	गृहस्थिक
त	२१	देखते
थ	.७	मखिला/देवाश्च
द	५	निजसद्व्रतानि
ध	१५	मेहमान
न	७, १३	यतसृज्यते/तदन्यथायितुं; यह
प	१, १६	पूर्णः, शोधयेत्
२	१६	अन्तरात्मा
३	१, १२, १६	विवाद, अवश्य, प्रतिबिंब
४	२	स्वात्मदर्शी
५	६	महौषधि
६	१९	एकतानत्वमेतद्दिह, निदिध्यासनमुच्यते
७	११, २१	ध्येयैक, ब्रह्म

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध रूप
८	२/६, ७, ६, १४	बाह्य, धर्ममेघमिमं, धारा, धर्ममेघं, चित्तैकाग्रता
६	२, २२	चित्तैकाग्रय्, महाराज
१०	१२/१३/१४	चित्तैकाग्रय्
११	२, ४, १३, १४, २१	होती, लोह, कम, रूगोर्वचः, कम
१२	२, ३	के, क्रेषाणु
१३	१५	चोध्यं
१४	१५, १७	साधक, व्योम
१५	८	कहो
१६	२	शक्ति
१८	३	सदा
२०	४	तादशी
२१	२, ४, १६	यदनोदगतादक्, ईदक्ता, परोक्षता
२२	२०	आत्मसंस्थं
२५	१	चैतन्यं
२६	२, १५	उल्कावत्, अशेषतः
३२	५	तद्धेयं
३७	१४	कृते
४०	५	चौदहवें
४१	१६	अस्तिता
४७	१७	अज्ञानं
६१	६, ८, १५	दढ़ाभ्यासा, उदेते, प्रमाण
६२	१२	बड़े बड़े
६३	१४	निरूपणं

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध रूप
६५	१०	अभ्यास,
६६	११, १२, १४	पढ़ो, खेती बाड़ी, कृष्णो,
७०	२, ३, १४	इच्छा, क्लेशन्नेव, भोगेऽपि
७१	१६	निश्चय
७३	१	आक्रमण
७५	११, १७, १८	भजंत्ये, परेच्छापूर्वक, भोगता
७६	८	नहीं
७८	६	व्यसनं
८५	२२	भोग्यं
९४	१	भासनं
९५	२१	नास्य
९६	२२	साध्वीत्याचार्य
९८	१	ब्रह्म
१०३	६	और
१०४	८, २०	पहुंचाए, सत्यां—होगी
१०५	२०	तीक्ष्ण
१०६	६, १६	इव, इतिचेत
१०७	८/१०, ६, २३	वागादि, इत्येवं, मात्रा···
१०८	२, १४, १६	निवर्तयेत्, श्रद्धालु:, प्रत्यय
१०९	२/५, १५	पश्चाच्च, स्वप्नेधि
११०	१०	स्वपनादवै
१११	२१	एक
११२	२, १२	शक्नोत्येव, निरूपण

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध रूप
११३	१४	सर्वास्थो
११४	४	तस्यार्थस्तस्य
११६	९, १२, १९	·· हृते,··· कर्मादि, तावच्छ्रैष्ठ्यं
११७	१९	···सों···
११८	२	ब्रह्म ज्ञान
१२१	१०	अगाधनिधेर
१२४	१३	रूप
१२५	१०	विष्ण्वादि
१२६	१८	ऐसा
१२७	२	सर्वदैव
१२८	१०, १५	अंतर्मुखाह , बाहर के
१३०	१३	नृत्यशालास्थितो
१३४	३	भासित
१३५	१८	ग्राह्यताम्
१३६	११, १४	यदि, हूं
१३७	९	तदधीनो
१३९	१, ३, १०	उपनैन, पापी, स्मरण
१४२	२०	···गर्वैश्च
१४४	१	उसमें
१४५	१६	अनुभूतं
१४६	१४, १५, १९	···कु···, सुप्तानंदे, इत्येते
१४७	५	हस्तस्तंभादि
१४८	७, १६, २०	नीडैकलंपट:, लगाना, रागद्वैषादि

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध रूप
१५३	५	व्रजते
१५४	८	परिखेदत:
१५५	१२	स्वयोनावुपशाम्यति
१६०	१२	मनसिच
१६२	१६	परव्यसनिनी
१६३	२	आचार्य
१७०	१२	त्यक्तर्यस्ति
१७१	३	ह्यतिप्रिय:
१७३	८	वित्तात्पुत्र:
१७४	१५/१८, २१	दारिद्रयं, श्लोक
१७५	११, १४	लड़कियां, कुटुम्ब
१७७	५, ६, ७	...पदत्वेन, वृद्धि:, प्रीति
१७८	६	सतोगुण
१८०	१८	अग्नि
१८१	२, ६, १२, २०	अकार्ये, ज्वलत्व अग्नि, गुणैर्निगूढां, मुनीश्वर
१८५	२०	पूर्वमस्त्येव
१८६	१६	सन्धि और साअंत
१९३	२, १५, १७, १८	यत् यत्, अद्भुतम्, महिमेति, शक्तेर, निद्रा
१९४	३	देशकाल
१९५	१४	शुद्धता, अशुद्धता
१९६	१, ७	मनोराजों, परिणाम्
१९७	७	रूपात्मक
१९८	११, २१	हिमालय, उपेक्षिते

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध रूप
१९९	१०	सदृश
२००	८	दृश्य
२०५	१८	वक्तव्य
२०६	६, ८	भक्षन्क्रीडन्रतिं, भक्षिण
२०७	२१	सब
२०९	१९	श्लोक
२१०	९, १८	सामान्यतः, अत्यन्त
२१२	८, २२, २३	उपाय, विरुद्ध, मनुष्य
२१३	१०, १४	दर्शन, इच्छा
२१५	५, ६, १०, २१	अन्तर्मुखास्व, वृत्तिष्वं, वस्तु, सच्चिदानन्द
२१६	९, १०	प्रतिबिंबित, पारमार्थिक
२१७	१०/३६	सिद्ध
२२१	२२	सच्चिदानंद
२२२	५	अनेन, ब्रह्मानंदेन

